# मध्य गांगेय मैदान में संजाति–पुरातात्विक अन्वेषण

## (ETHNO-ARCHAEOLOGICAL INVESTIGATIONS IN THE MIDDLE GANGETIC PLAIN)

डी० फिल० उपाधि के लिये प्रस्तुत
शोध प्रबन्ध
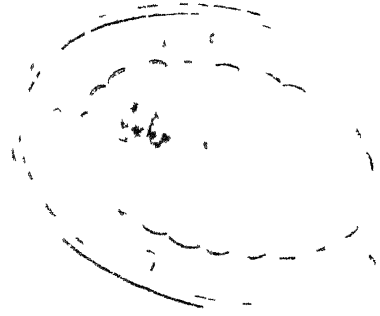
शोध कर्त्ता
**प्रहलाद बरनवाल**

निर्देशक
**प्रो० जे० एन० पाल**

**प्राचीन इतिहास, संस्कृति एव पुरातत्व विभाग**
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

**1998**

## 'प्राक्कथन'

प्रागैतिहासिक (पाषाण युगीन) संस्कृतियों का ज्ञान देने वाले पुरातात्त्विक अवशेष सीमित हैं, इसलिए प्रागैतिहासिक मानव की तरह प्रकृति पर निर्भर रहने वाले वर्तमान अविकसित जनजातियों के जीवन के अध्ययन ने प्राचीन संस्कृतियों के समझने में अत्यधिक सहायता की है । नृतत्व ( संजाति ) विज्ञान आदिम जनजातियों के आचार-विचार तथा सांस्कृतिक जीवन के बारे में पुरातत्व को महत्वपूर्ण सूचनायें प्रदान करता है । इन सूचनाओं का उपयोग पुरातात्ि अध्ययनों में सावधानीपूर्वक करना पड़ता है, क्योंकि आदिम जातियाँ भी अपने लम्बे ऐतिहासिक काल में समय के साथ परिवर्तित होती रही हैं और समकालीन तथा समीपवर्ती विकसित संस्कृतियों से कुछ सीमा तक प्रभावित होती रही हैं ।

वर्तमान आदिम जातियों के सांस्कृतिक अध्ययन के आधार पर प्रागैतिहा संस्कृतियों का पुनर्निर्माण संजाति-पुरातत्व ( इथनो-आर्क्योलाजी ) कहा जा सकता है । बहुत से पुरातात्त्विक प्रमाण ( संरचनायें या पुरावशेष ) वर्तमान आदिम जातियों द्वारा प्रयुक्त उसी प्रकार के संरचनाओं और उपकरणों के द्वारा ही व्याख्यायित किये जा सकते हैं । इस तरह के अध्ययन इलाहाबाद विश्व-विद्यालय और कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय ( बर्कले ) के पुरातत्वविदों द्वारा विन्ध्य क्षेत्र की सोन घाटी में हुये हैं ।

मध्य गांगेय मैदान में पुरासंस्कृतियों एवं पुरास्थलों की जो खोज अब तक हुयी है उससे संजाति पुरातत्व पर क्या प्रभाव पड़ा है और वर्तमान साधारण समाज या आदिम समाज में क्या निरन्तरता विद्यमान है ? इन प्रश्नों के समुि

हमारे परमादरणीय गुरु जी प्रो० जे० एन० पाल ने प्रेरित किया और सम्पूर्ण मध्य गंगा घाटी के पूर्व इतिहास युगीन संस्कृतियों एवं उत्खनित स्थलों से प्राप्त सूचनाओं को संजाति पुरातत्व के विशेष सन्दर्भ में विवेचन करने को प्रोत्साहित किया। इस दृष्टि से भारतीय प्रागितिहास में कार्य काफी कम हुआ था। इसके अतिरिक्त स्नातकोत्तर कक्षा में अध्ययन के समय आदिम संस्कृतियों के स्वरूप के बारे में अध्ययन हेतु मेरी प्रबल जिज्ञासा 'नृपुरातत्व' को लेकर थी। इस जिज्ञासा के पीछे सम्भवतः मेरा ग्रामीण परिवेश और वहाँ पर रह रही जन-जातियों के क्रिया-कलापों में पूर्व इतिहास युग के मानव के क्रिया-कलापों में काफी समानता का होना था। इस तरह मेरे शोध का विषय 'मध्य गांगेय मैदान में संजाति पुरातात्त्विक अन्वेषण' सुनिश्चित किया गया।

प्रातिनूतन काल के अन्त होते-होते जलवायुगत परिवर्तन के कारण और सम्भवतः जनसंख्या में वृद्धि के कारण विन्ध्य क्षेत्र के पाषाण युगीन मानव ने गंगा के मैदान को पहली बार आबाद किया और उसके बाद इस क्षेत्र में संस्कृतियों का अविच्छिन्न क्रम बना हुआ है। मध्य पाषाण संस्कृति मध्य गंगा मैदान के पश्चिम में और नव पाषाण संस्कृति इसके मध्य तथा पूर्वी भाग में प्रकाश में आयी है। इन संस्कृतियों का जो स्वरूप पुरातात्त्विक उत्खननों से प्राप्त हुआ है उसके कई पक्षों को नृतत्वशास्त्र की सहायता से व्याख्यायित किया जा सकता है और वर्तमान शोध का उद्देश्य यही है। ताम्रपाषाणिक और प्रारम्भिक ऐतिहासिक संस्कृतियों के अध्ययन ने भी बहुत से आदिम परम्पराओं की निरन्तरता के प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। गंगा के मैदान में इस शदी में आदिम जातियों के जो कुछ

नृतत्वीय विवरण उपलब्ध है उनका विस्तृत विवरण प्रो0 बी0 एन0 मिश्र एवं डा0 मालती नागर ने प्रस्तुत किया है । शैक्षिक एवं आर्थिक विकास की दृष्टि से इन्हें अनुसूचित जाति का नाम दिया गया है जो तीन सौ विभिन्न समुदायों में विभाजित की गयी है । कतिपय जनजातियों का संजाति पुरातात्विक अध्ययन क्षेत्रीय कार्यों के आधार पर प्रस्तुत किया गया है । संजाति पुरातत्वीय यह अध्ययन मध्य गंगा के मैदान में सांस्कृतिक स्वरूप के कई नवीन पक्षों पर प्रकाश डालता है ।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध को 5 अध्यायों में विभाजित कर विवेचित करने का प्रयास किया गया है । प्रथम अध्याय में मध्य गांगेय मैदान का भौगोलिक परिवेश, वातावरण, जलवायु, स्थिति, सहायक नदियों, पेड़-पौधों, जीव-जगत एवं झीलों, पर्यावरण एवं सांस्कृतिक अनुक्रम आदि का उल्लेख प्रमाणिक रूप से प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है । द्वितीय अध्याय में पूर्ववर्ती विशेषतः ब्रिटिश नृतत्वशास्त्रियों के शोधों के आधार पर संजाति पुरातत्व सम्बन्धी आकड़े प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है । इसके अलावा उ0 प्र0 एवं विहार के जनजातियों की परिभाषा, शिकार एवं खाद्य संग्रह की प्रवृत्ति, ग्रामीण एवं सांस्कृतिक पहचान को बनाये रखने की क्षमता आदि का संक्षिप्त विवरण भी प्रस्तुत किया गया है । तृतीय अध्याय में परवर्ती नृतत्वशास्त्रियों और पुरातत्व शास्त्रियों तथा वर्तमान शोधों के आधार पर मध्य गांगेय मैदान में संजाति पुरातत्व से [illegible] जानकारी दी गयी है । वर्तमान आदिम समाज के जीवन से प्राप्त आकड़ों के आधार पर पूर्व आदिम समाज की आर्थिक, तकनीकी और सांस्कृतिक

गतिविधियों पर प्रकाश डाला गया है । जनजातीय समूह, आवासीय पद्धति जीविका के साधन जैसे शिकार करना एवं मछली मारना, खाद्य संग्रह की प्रवृत्ति, शिकार करने की प्रौद्योगिकी एवं विधियाँ आदि का विस्तृत एवं वैज्ञानिक विवरण प्रस्तुत किया गया है । वर्तमान आदिम जातियों के अन्य व्यवसाय, अपराध, विकसित समाज के साथ अन्तर्क्रिया, धार्मिक एवं सामाजिक विश्वास, खान-पान, रहन-सहन, वेश-भूषा, अन्त्येष्टि संस्कार, आर्थिक अन्तर्क्रिया, आदि का विवरण भी प्रस्तुत किया गया है । घुमक्कड़ जनजाति कंजड़ का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है । अन्त में जनपद सुलतानपुर में स्थित मुसहर, नट, मंगता, बंसफोड़ ( वनमानुस ) आदि का मंजाति पुरातत्व के दृष्टिकोण से संक्षिप्त उल्लेख करने का प्रयास किया गया है । _चतुर्थ अध्याय में_ मध्य गांगेय मैदान की मध्य पाषाणिक संस्कृति, नव पाषाणिक संस्कृति, ताम्रपाषाणिक संस्कृति तथा प्रारम्भिक ऐतिहासिक कालीन संस्कृतियों का विवेचन उत्खनित स्थलों के विशेष सन्दर्भ में किया गया है । मध्य गंगा घाटी में प्रथम मानव के आगमन की कहानी की पृष्ठभूमि, उपकरण प्रकार, उनके आवास के सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा की गयी है । इसके पश्चात् नवपाषाणिक संस्कृतियों का विवरण प्रस्तुत किया गया है । मध्य गंगा घाटी की नवपाषाणिक संस्कृतियों की सम्पूर्ण समीक्षा मंजाति-पुरातत्व के सन्दर्भ में करने का प्रयास किया गया है । ताम्र पाषाण काल में मनुष्य स्थायी निवास एवं अतिरिक्त उत्पादन व्यवस्था पर जोर देने लगा जिससे इस काल के मानव के खाद्य संग्रह, शिकारी प्रवृत्ति, आवास, आर्थिक तकनीकी विकास आदि में परिवर्तन परिलक्षित होता है । यह उल्लेखनीय है कि पूर्व संस्कृतियों से इस संस्कृति में निरन्तरता परिलक्षित होती है । इस अध्याय के अन्त में प्रारम्भिक

ऐतिहासिक कालीन संस्कृति का विवरण प्रस्तुत किया गया है । भारत में द्वितीय नगरीकरण की शुरूआत इसी क्षेत्र से हुयी लेकिन इस काल के भी सामान्य मानव की संस्कृति तथा वर्तमान साधारण समाज की संस्कृति में अनेक समानतायें पायी जाती हैं, जिससे संजाति पुरातत्व के निर्धारण में अत्यधिक सहायता मिलती है । शोध प्रबन्ध के अन्तिम अध्याय में शोध का सार एवं निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है ।

शोध निदेशक आदरणीय गुरूवर प्रो0 जे0 एन0 पाल के प्रति कृतज्ञता एवं आभार व्यक्त करने के लिये मेरे पास शब्द नहीं हैं जिन्होंने मेरे शोध प्रबन्ध को अन्तिम रूप प्रदान किया । वे मुझे हमेशा प्रोत्साहित, प्रेरित एवं मार्गदर्शन प्रदान करते रहे । शोध कार्य में मैंने उनके बहुमूल्य समय का सदुपयोग किया । मैं ईश्वर से यही कामना करता हूँ कि उनका अभिभावकत्व एवं पिता-तुल्य स्नेह आजीवन प्राप्त होता रहे ।

अपने शोध कार्य के लिये मैंने विभिन्न पुस्तकालयों - केन्द्रीय पुरातत्व पुस्तकालय नई दिल्ली, भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण नई दिल्ली, नेशनल लाइब्रेरी कलकत्ता, इलाहाबाद म्यूजियम लाइब्रेरी, इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग के पुस्तकालय, संग्रहालय तथा छाया चित्र बी0 एच0 यू0 केन्द्रीय पुस्तकालय, [illegible] इन्स्टीच्यूट आफ इण्डियन स्टडीज रामनगर (बनारस) पुस्तकालय, का सर्वाधिक सदुपयोग किया । इसके लिये हम उपरोक्त संस्थानों के कर्मचारियों के प्रति आभारी हैं ।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा प्रदत्त जे0 आर0 एफ0 एवं एस0आर0 एफ0 के माध्यम से शोध कार्य को पूर्ण करने में आर्थिक परेशानियों का सामना नहीं करना पड़ा, इसके लिये मैं यू0जी0सी0 के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ ।

शोध कार्य में मुझे समय-समय पर अनेक गुरूजनों से प्रेरणा एवं सहयोग प्राप्त होता रहा है। मैं उन सभी पुरातत्वविदों एवं विद्वानों का विशेष आभारी हूँ जिनके उद्धरण प्रस्तुत शोध प्रबन्ध की रचना में सहायक एवं उपयोगी सिद्ध हुए हैं। विभागाध्यक्ष आदरणीय गुरूवर प्रो0 वी0 डी0 मिश्र का स्नेहिल आशीर्वाद, प्रेरणा, प्रोत्साहन निरन्तर प्राप्त होता रहा है, उसके लिये मैं सादर नतमस्तक हूँ तथा कामना करता हूँ कि वह मुझे निरन्तर मिलता रहे।

विभाग के अवकाश प्राप्त गुरूजनों प्रो0 गोविन्द चन्द्र पाण्डेय, प्रो0 जसवन्त सिंह नेगी, प्रो0 ब्रज नाथ सिंह यादव, प्रो0 उदय नारायण राय, प्रो0 सिद्धेश्वरी नारायण राय, प्रो0 शिवेश चन्द्र भट्टाचार्या, प्रो0 धनेश्वर मण्डल और श्री वृज विहारी मिश्र से प्रेरणा एवं प्रोत्साहन निरन्तर प्राप्त होता रहा जिसके लिये मैं उनका अतीव आभारी हूँ।

विभाग के वर्तमान गुरूजनों प्रो0 रामकृष्ण द्विवेदी, प्रो0 ओम प्रकाश, प्रो0 गीता देवी, प्रो0 आर0 पी0 त्रिपाठी, प्रो0 जे0 एन0 पाण्डेय तथा डा0 यू0 सी0 चट्टोपाध्याय के प्रति मैं अनुग्रहीत हूँ जिन्होंने सदैव मुझे स्नेह और सहयोग प्रदान किया। विभाग के अन्य गुरूजनों डा0 जी0 के0 राय, डा0 पुष्पा तिवारी, डा0 वनमाला मधोलकर, डा0 ए0 पी0 ओझा, डा0 सी0डी0 पाण्डेय, डा0 प्रकाश सिन्हा, डा0 अनामिका राय और डा0 शशिकान्त राय, के प्रोत्साहन के लिए मैं इनका आभारी हूँ। विभागीय कर्मचारी सर्व श्री मोइनुद्दीन खान, अनोखे लाल, डा0 आर0 एस0 राना, एच0 एन0 कर, लक्ष्मी - कान्त तिवारी, राजेन्द्र प्रसाद यादव, वी0 के0 खत्री, राजेश, कमलेश सभी के प्रति उनके सहयोग के लिए मैं हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ।

डा० मानिक चन्द्र गुप्त के प्रति सम्यक् आभार प्रदर्शन सरल नहीं है। उन्होंने मुझे सदैव इस कार्य के लिये प्रोत्साहित एवं प्रेरित किया तथा मार्गदर्शन प्रदान किया। इसके लिये हम उनके सदैव आभारी रहेंगे। मेरे गुरुभाई डा० सुरेन्द्र प्रताप सिंह §डिप्टी एस० पी० §, डा० विजय प्रकाश वर्मा§बी०डी०ओ०§ डा० अनिल कुमार दुबे का शोध प्रबन्ध तैयार करने में काफी सहयोग रहा। उनका मैं हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ।

शुभचिन्तकों में श्री अवधेश नारायण मिश्र अनुसचिव, उ०प्र० शासन, श्री वी० एन० पी० शुक्ला, विभागाध्यक्ष के० एन० आई० हिन्दी, श्री एस० एन० बरनवाल जिन्होंने इस कार्य के लिये मुझे सदैव प्रेरित किया, मैं उनका आभारी हूँ। कामना करता हूँ कि उनकी प्रेरणा एवं स्नेह सतत् प्राप्त होता रहे।

उन सभी मित्रों के नाम का उल्लेख मैं नहीं कर सकता हूँ जिन्होंने सदैव मुझे इस कार्य के प्रति प्रोत्साहित ही नहीं किया अपितु येन-केन-प्रकारेण सहयोग भी प्रदान किया। अभिन्न मित्रों में जयन्त, बसन्त, मनोज, आशुतोष, अनिल, सत्यप्रकाश सिंह, राजेश कुमार राय, सुधाकर, राम नरेश पाल, महेन्द्र पाल, के० के० मिश्र, सी० पी० सिंह, सन्तोष, हीरेन्द्र, महेन्द्र, हीरालाल शर्मा, रामदेव यादव, अनूप सभी के प्रति मैं हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ। आभा, सुनीत, अरुण, पप्पू, स्वाभा, के प्रति आभार व्यक्त करना अपना पुनीत कर्तव्य समझता हूँ। आदरणीया गुरु पत्नी जो मेरी माँ सदृश्य हैं उन्होंने मुझे जो ममतामयी स्नेह प्रदान किया है वह सदैव अविस्मरणीय रहेगा। निरन्तर इसी प्रकार के स्नेह की कामना करता हूँ।

अपने पिताजी तथा माँ एवं दादी के प्रति आभार प्रदर्शित करना सरल नहीं है । उनका स्नेह एवं प्रोत्साहन सदा मेरे साथ रहा । दुर्भाग्यवश मेरे पिता जी इस कार्य को न देख सके अन्यथा वे अत्यन्त प्रसन्न होते । जीजा श्री मस्तराम बरनवाल, अग्रज श्री रमाकान्त बरनवाल एवं अनुज नरसिंह एवं वेद प्रकाश ने भी अपनी सामर्थ्य के अनुसार मेरी सहायता की है । पत्नी श्रीमती रीना का मैं विशेष आभारी हूँ जिन्होंने शोध प्रबन्ध को तैयार करने में सहयोग ही नहीं दिया अपितु गृहस्थी के दायित्वों का निर्वाह करते हुये प्रतिदिन की समस्याओं को झेलकर मेरे कार्य को सहज एवं सरल बना दिया । श्री उमा शंकर पाल ने अत्यन्त कम समय में स्वच्छ एवं त्रुटिविहीन टाइप की जिससे मैं उनके प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ ।

प्रहलाद बरनवाल
(प्रहलाद बरनवाल)
शोध कर्त्ता
प्राचीन इतिहास, संस्कृति
एवं पुरातत्व विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद ।

## रेखाचित्रों की सूची

## छायाचित्रों की सूची

# विषय सूची

## अध्याय प्रथम

**मध्य गांगेय मैदान की स्थिति, विस्तृत भौगोलिक परिवेश, जलवायु, वनस्पति और जीव जगत, नदियाँ और झीलें, सांस्कृतिक अनुक्रम ।**

गंगा नदी भारत की अद्भुत सांस्कृतिक धरोहर ही नहीं अपितु सदियों से भारतीय जनमानस की प्रेरणा का श्रोत रही है । अपने अपवाह क्षेत्र में महान संस्कृतियों का उतार चढ़ाव और मानव की उन्नति-अवनति गाथा समेटे हुए इस पवित्र सरिता की महत्ता का वर्णन आदिकाल से न केवल पौराणिक, आध्यात्मिक साहित्य में मिलता है अपितु लौकिक साहित्य में भी इसकी विशिष्टता की एवं महत्ता की अनेकानेक कथाएं अन्तर्कथाएं प्राप्त होती हैं । समय-समय पर भारत आने वाले विदेशी यात्रियों ने भी अपने यात्रा संस्मरणों और पुस्तकों आदि में तत्कालीन भारतीय जनमानस में व्याप्त इसकी महत्ता का वर्णन किया है ।

यह प्राचीनतम काल से भारतीय संस्कृति की एकता एवं पवित्रता की प्रतीक मानी गई है । लोक कथाओं तथा परम्पराओं में इसे शक्ति देने वाली "गंगा माता" कहा गया है । गंगा के प्रति हिमालय से कन्याकुमारी तथा गुजरात से उड़ीसा तक सभी भारतीयों का आकर्षण रहा है । चिरकाल से एकता का यह बंधन इतना अटूट तथा शक्तिशाली है कि कोई भी शारीरिक बाधा, राजनीतिक शक्ति इसे नष्ट नहीं कर सकी । जन मानस में ऐसा विश्वास है कि गंगा के [illegible] से ही मुक्ति मिलती है । गंगा की दैवीय उत्पत्ति से सम्बन्धित अनेक कथाएं एवं [illegible] प्रचलित है ।

प्राचीन [illegible] में गंगा की परिकल्पना देवी के रूप में है; श्वेत वस्त्र पहने हाथ में कमल लिए हुए तथा मकर पर बैठे हुए की गई है । ब्रह्मवैवर्त पुराण में शिव को गंगा की प्रशंसा में गीत गाते हुए वर्णित किया गया है । गंगा पापों से

प्रायश्चित कराने का माध्यम है । जन्मजन्मान्तर से पापियों द्वारा किये गए पापों के ढेर को भी गंगा को स्पर्श करती हुई वायु नष्ट कर देती है । जिस प्रकार अग्नि ईंधन समाप्त कर देती है उसी प्रकार गंगा दुष्टों के पापों को आत्मसात कर लेती है । गंगा के तट पर मृत्यु प्राप्त करने वाले मनुष्यों के सभी पाप दूर हो जाते हैं । महाभारत[1] के अनुसार युधिष्ठिर गंगा के पवित्र जल में स्नान करके अपने मानव शरीर को त्याग कर अमरत्व को प्राप्त हुए थे ।

गंगा के स्वर्गावतरण के विषय में अनेक कथाएं प्रचलित हैं । जनश्रुति है कि गंगा को रघुवंशी भगीरथ अपने पूर्वजों - राजा सगर के साठ हजार पुत्रों की मुक्ति हेतु पृथ्वी पर लाए थे ।[2] अयोध्या के राजा सगर की दो रानियाँ थी । एक रानी से अंशुमान तथा दूसरी से साठ हजार अन्य पुत्र हुए । राजा सगर ने अश्वमेध यज्ञ करने का निश्चय किया तथा अपने 60,000 पुत्रों के नेतृत्व में काले घोड़े को छोड़ दिया । इस यज्ञ के द्वारा राजा सगर इन्द्र का स्थान प्राप्त करना चाहते थे । इन्द्र ने अपने पक्ष की रक्षा हेतु एक युक्ति की । जैसे ही यज्ञ का घोड़ा सगर पुत्रों की आँखों से ओझल हुआ, इन्द्र ने उसे पाताल लोक में महामुनि कपिल के आश्रम में बाँध दिया । सभी स्थलों पर खोजने के उपरान्त वह कपिल मुनि के आश्रम में प्राप्त हुआ । ध्यानमग्न कपिलमुनि को सगर पुत्रों ने चोर समझकर अपमानित किया । जिससे क्रोधित होकर कपिलमुनि ने शाप द्वारा सभी सगर पुत्रों को भस्म कर दिया । नारदमुनि द्वारा यह समाचार राजा सगर को दिया गया तथा यह भी बताया कि केवल परमपावनी गंगा ही मृत्युलोक में आकर शापित सगर पुत्रों को मुक्ति दिला सकती हैं । पृथ्वी पर

---

[1] महाभारत, स्वर्गारोहण पर्व 18/23

[2] दुबे दयाशंकर, [1942], श्री गंगा रहस्य, पेज 40-45.

गंगावतरण भी सहज नहीं था । कालान्तर में रघुवंशी राजा भगीरथ की कठोर तपस्या से प्रसन्न होकर ब्रह्मा ने गंगा को मृत्युलोक भेजना स्वीकार कर लिया, यदि शंकर गंगा को अपनी जटाओं पर रोकना स्वीकार लें । शंकर के गंगा को धारण करने के लिए तैयार होने पर गंगावतरण हुआ किन्तु शिव की विशाल जटाओं में गंगा बंधी रही तथा भगीरथ को एक बार पुन: गंगा को मुक्त कराने हेतु तपस्या करनी पड़ी । भगीरथ के तप से प्रसन्न होकर शिव ने अपनी जटाओं से गंगा को मुक्त करा दिया । इसी से गंगा 'भगीरथी' के नाम से जानी जाने लगी । इसी प्रकार की और भी किम्वदन्तियां गंगा के नाम से प्रचलित हैं । गंगा ने सगर पुत्रों का स्पर्श कर उन्हें मोक्ष प्रदान किया ।

विद्वानों का विचार था कि गंगा की उत्पत्ति तिब्बत में मानसरोवर के निकट कैलाश पर्वत से हुई है किन्तु उस समय तक समुचित सर्वेक्षण नहीं हुए थे, अब इस बात में सन्देह नहीं है कि गंगा की उत्पत्ति गढ़वाल क्षेत्र से हुई है । भागीरथी गंगा की प्रमुख जलधारा है । गंगा का मूल स्रोत हिमाच्छादित गंगोत्री के निकट गोमुख नामक स्थान है {30⁰ 56-2'; 79⁰ 64' 18"} जो समुद्र से 12,770 फुट ऊँचा है । यह इस क्षेत्र के बड़े हिम नदियों में से एक है । भागीरथी 22,000 तथा 23,000 फुट ऊँचे शिखर वाले कणहिम से आच्छादित चौखम्भा से बहती है । यह आश्चर्यजनक तथ्य है कि यद्यपि भागीरथी गंगोत्री हिमनद से होकर बहती है परन्तु यह गोमुख में आकर सूर्य के दर्शन करती है । इस भूमिगत नदी का आविर्भाव हिमनद के हिमविवर के पानी के पिघलने और पृथ्वी के नीचे-नीचे बहने से हुआ । हिमनद से निकलने वाली विभिन्न छोटी नदियाँ भागीरथी में आकर मिलती हैं । गंगोत्री के ठीक नीचे भागीरथी में दक्षिण

से केदार गंगा आकर मिलती है ।

गंगोत्री के निकट समुद्र की सतह से लगभग 9,950 फुट ऊपर भागीरथी बहती है । गंगोत्री से लगभग एक मील नीचे भागीरथी में रुद्रगंगा नदी मिलती है जिसका स्रोत भी हिमनद है । आगे चलकर भागीरथी में अनेक नदियाँ आकर मिलती हैं यथा - गंगा या जाह्नवी, गमगम नाला, तिलगा नाला, कलदीगद, सनालगद, कारीगढ, भीलनगंगा आदि । देवप्रयाग तक इस नदी का नाम भागीरथी है । देवप्रयाग में आकर यह त्रिशूल के पश्चिमी ढाल पर स्थित हिमनद से उत्पन्न अलकनन्दा नदी से मिलती है । भागीरथी नदी में मिलने के पूर्व, रुद्रप्रयाग नामक स्थान पर अलकनन्दा नदी मन्दाकिनी नदी से मिलती है ।

मन्दाकिनी नदी प्रसिद्ध केदारनाथ धाम के निकट ग्लेशियर से उत्पन्न होती है । भागीरथी तथा अलकनन्दा नदियाँ देवप्रयाग में आपस में मिलकर गंगा नाम धारण करती हैं । जल निस्तारण की दृष्टि से गंगा नदी विन्ध्य के उत्तरवर्ती तथा शिवालिक की पहाड़ियों के दक्षिणवर्ती नदियों में से सबसे महत्वपूर्ण एवं विस्तृत नदी है । गंगा नदी की लम्बाई 1,557 मील (2,506 किलोमीटर) है[3] इसे संसार की 39वीं लम्बी नदी माना गया है ।

गंगा का मैदान उत्तर में हिमालय और दक्षिण में विन्ध्य पर्वत श्रृंखला के मध्य में स्थित है । गंगा के मैदान को तीन प्रमुख भागों में बाँटा जा सकता है (मानचित्र नं० 1)

---

(3) एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, (1943 व 1977), वाल्यूम-7, (विलियम बेन्टन द्वारा सम्पादित), पेज - 879.
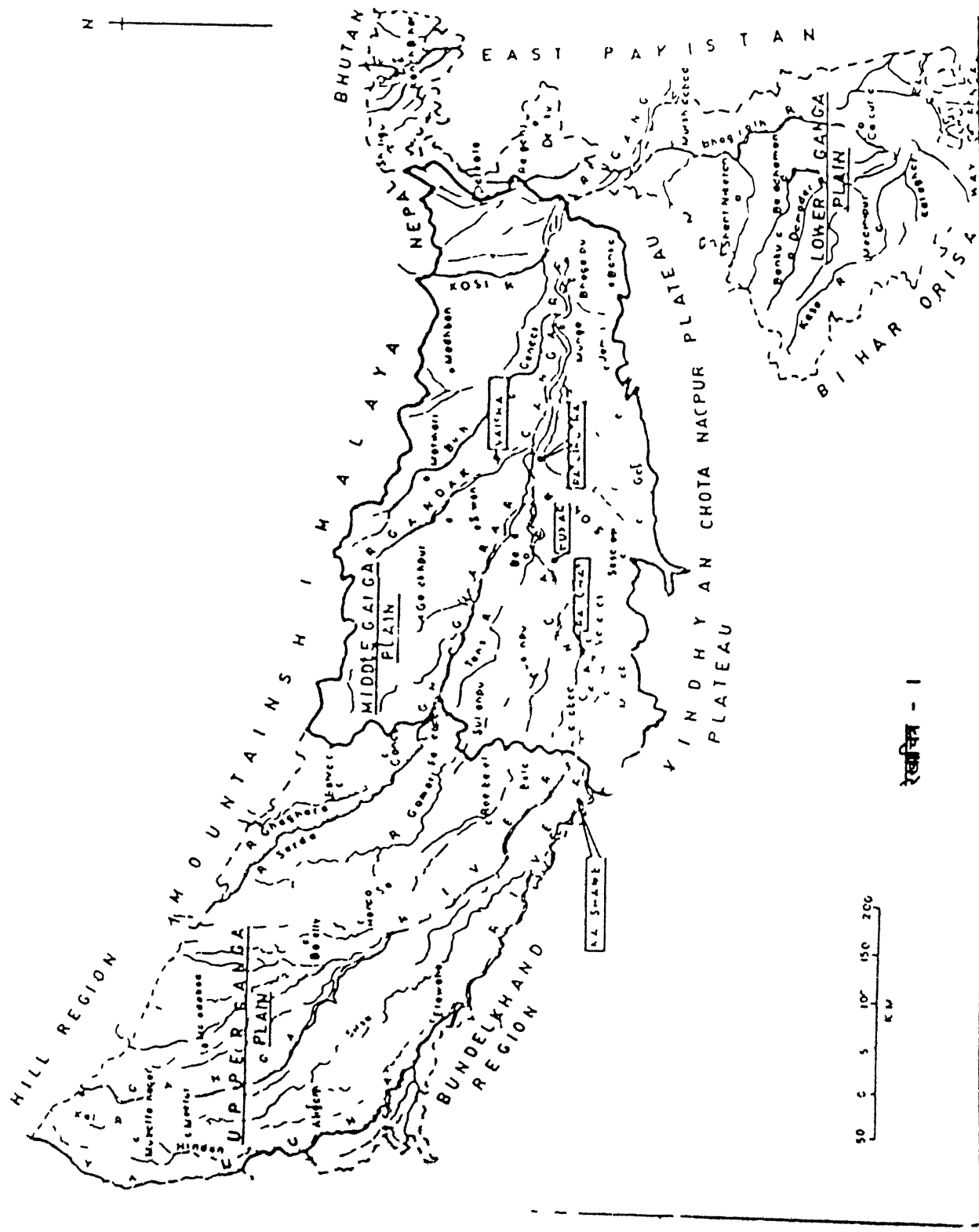
§1§ ऊपरी गांगेय मैदान या गंगा - यमुना - दोआब जो मोटे तौर पर पूर्व में इलाहाबाद तक फैला हुआ है §रेखाचित्र न0 -2§

§2§ मध्य गांगेय मैदान जो मोटे तौर पर पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा बिहार है और राजमहल पहाड़ियों तक चला गया है §रेखाचित्र न0· 3 §

§3§ निम्न गांगेय मैदान जो पश्चिम बंगाल और डेल्टा तक है । §रेखाचित्र न0· 4

साधारण रूप से गंगा नदी के समानान्तर बहने वाली यमुना नदी उच्च गंगा घाटी की दक्षिणवर्ती सीमा का निर्धारण करती है । यद्यपि यमुना तथा उसकी सहायक बनास, सिन्धु, बेतवा, केन, टोन्स एवं सोन नदियों के द्वारा राजस्थान और मध्य प्रदेश के एक विस्तृत भूभाग का जल निस्तारण गंगा के द्वारा ही होता है । किन्तु उच्च गंगा घाटी में प्रायः यमुना का उत्तरवर्ती क्षेत्र ही लिया जाता है ।

पश्चिम में यमुना नदी तथा पूर्व में 100 मीटर समोच्च रेखा §समोच्च-रेखा§ के मध्य स्थित उच्च गंगा घाटी §73$^{0}$ 3' पू- 82$^{0}$ 21' प0 तथा 25$^{0}$ 15' उ0- 30$^{0}$ 17' उ0§ उत्तर प्रदेश के लगभग 1,49,129 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र के अन्तर्गत स्थित है ।[4] उत्तर में यह क्षेत्र 300 मीटर की समोच्च रेखा के घेरे में है जिसमें शारदा के पश्चिम स्थित हिमालय के कुमायूं गढ़वाल तक का क्षेत्र आता है । उच्च गंगा घाटी की पूर्व दिशा का विस्तार नेपाल की अन्तर्राष्ट्रीय सीमा तक है तथा दक्षिण में यमुना नदी बुन्देलखण्ड व उच्च गंगा घाटी के मध्य सीमा का कार्य करती है । प्रशासकीय दृष्टि से उच्च गंगा घाटी में देहरादून जिले को छोड़कर

---

§4§ वही, पेज - 133·

UPPER GANGA PLAIN
DRAINAGE
( उच्च गंगा घाटी )
( नदी प्रणाली )
N
RIVER
GANGA R
KALI EAST
RAMGANGA
GANGAN
PILAKHAR
DEOHA
SARDA RIVER
SUKHANTA
GHAGHARA
SARAYAN R
SOT R
RAMGANGA
NIM
GARRA
KALI
ISAN
SIRSA
GOMTI R
KALYAN
BHAKLA
TIRHI
SARJU RIVER
GOMTI RIVER
SAI RIVER
CHAMBAL R
HIND
PANDU
SIRSA
GANGA RIVER
YAMUNA RIVER
0
40
80
KM
रेखाचित्र - 2

( मध्य गंगा घाटी नदी प्रणाली )
BURHI RAPTI
RAPTI
RAPTI
KUWANA
AMI RIVER
ROHIN R
LITTLI GANDAK
JHARAHI NADI
DAHA GANDAKI
GANDAK R
BURHI GANDAK R
BAYA R
BALAN
DABRA
KOSI R
GHAGHARA RIVER
MAJHOI
TONS
CHOTI SARYU
GOMTI R
SAI R
BARNA R
GANGA R
KARMNASA R
SON R
PUNPUN
KIUL
GANGA R
DEVRA R
50 0 50 100
KM
RIVER
( नदी )
रेखाचित्र - 3

LOWER GANGA PLAIN
DRAINAGE
( निम्न गगा घाटी नदी प्रणाली )
N
Mahanada R
Mahananda
PADMA RIVER
GANGA
Bhagirathi
DAMODER
HOOGHLY
Kalindhai nadi
Subarnarekha R
100
0
100
KM
RIVER
रेखाचित्र - 4
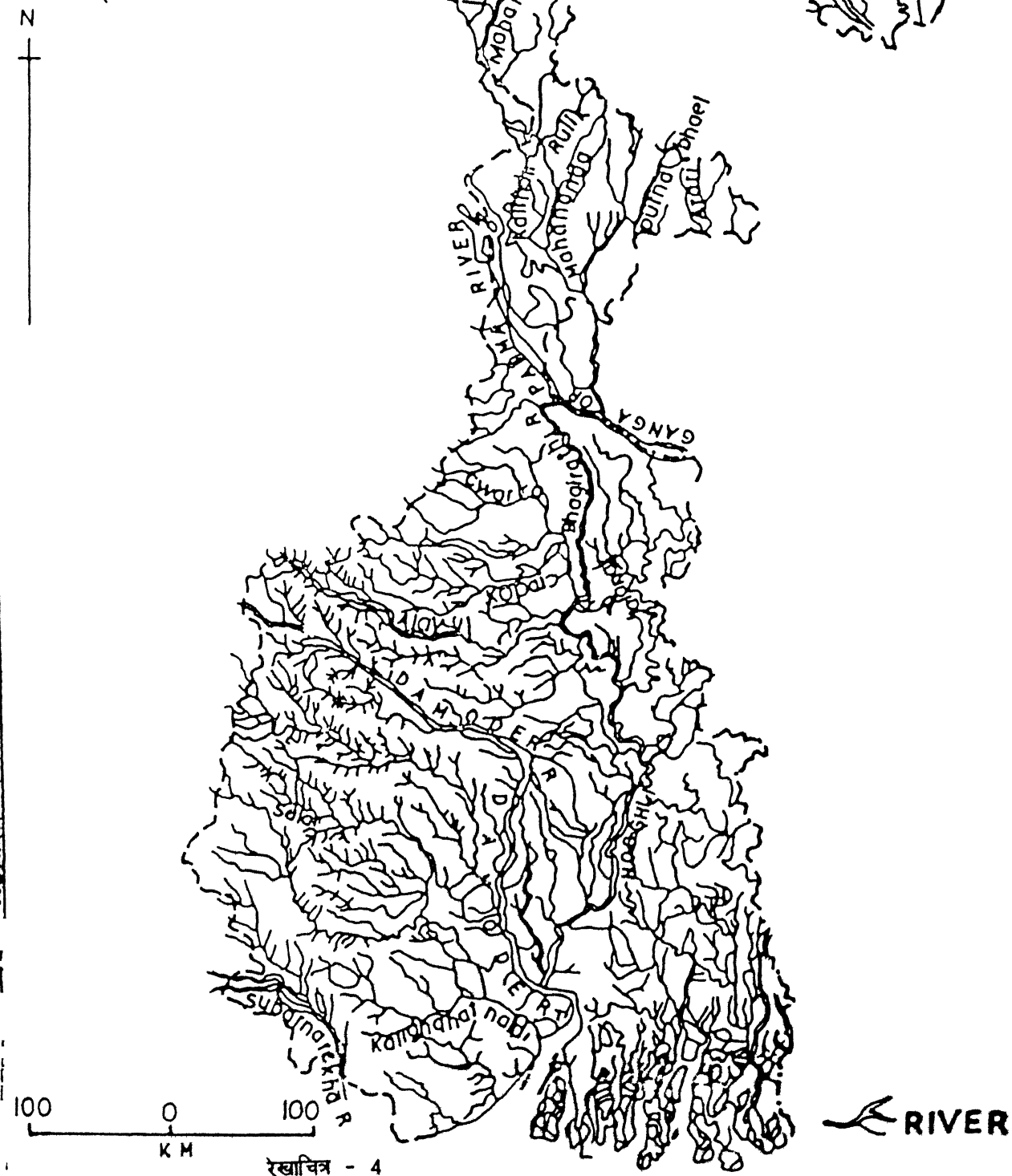
सम्पूर्ण मेरठ, आगरा, रुहेलखण्ड और लखनऊ सम्भाग तथा आंशिक रूप से इलाहाबाद, फैजाबाद और कुमायूं सम्भाग सम्मिलित किये जाते हैं ।[5]

उच्च गंगा घाटी की मुख्य नदी गंगा है जिसकी दो प्रधान नदियाँ घाघरा तथा गोमती आगे चलकर मध्य गंगा घाटी में गंगा में विलीन हो जाती हैं । प्राय: सभी नदियाँ उत्तर, पश्चिमच, दक्षिण, पूर्व धारा में ही बहती हैं । हिमालय से उत्पन्न नदियों में गंगा तथा उसकी सहायक नदियाँ यमुना, रामगंगा तथा घाघरा आदि प्रमुख हैं । ऋतु सम्बन्धी अत्यधिक उतार चढ़ाव होने पर भी इन नदियों में वर्ष भर आवश्यकतानुसार पानी रहता है । सरयूपार तथा अवध के मैदानी भाग घाघरा तथा गोमती द्वारा सींचे जाते हैं जबकि रामगंगा रुहेलखण्ड को सींचती है । दक्षिण से आने वाली चम्बल नदी यमुना से मिलने के पूर्व कई मील तक यमुना नदी के समानान्तर बहती है ।

उत्तर से दक्षिण लगभग 330 किलोमीटर (अक्षांश $24^0$ 30' 30–$27^0$ 50' 30) और पूर्व से पश्चिम लगभग 600 किलोमीटर (देशान्तर $81^0$ 47' 29' – $87^0$ 50' पू0 ) के 160,000 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में फैले मध्य गंगा मैदान के अन्तर्गत पूर्वी उत्तर प्रदेश और लगभग सम्पूर्ण बिहार प्रान्त सम्मिलित है । इसके अन्तर्गत उत्तर प्रदेश का पूर्वी एक तिहाई और उत्तरी आधा बिहार सम्मिलित है ।[6] उत्तर में हिमालय तथा दक्षिण में विन्ध्य पठार से घिरी मध्य गांगेय मैदान के पूर्व और पश्चिम कोई प्राकृतिक सीमा रेखा नहीं है, फिर भी बिहार और बंगाल

---

(5) मेमोरिया चतुर्भुज (1995), आधुनिक भारत का वृहद भूगोल, आगरा, पेज – 1029.

(6) स्पेट, ओ0 एच0 के0 और ए0 एम0 [illegible], 1960, इण्डिया एण्ड [illegible], पृ0 564.

प्रान्तों की सीमा रेखा इसके पश्चिमी छोर का निर्धारण करती है और इलाहाबाद से फैजाबाद जाने वाली रेलवे लाइन को इसकी पश्चिमी सीमा रेखा माना गया है ।[7] उत्तरी बंगाल में नदी समूह, संचार और जीवन का स्वरूप दक्षिण बंगाल से इतना भिन्न है कि स्पेट के अनुसार बिहार के पूर्वी जिले पूर्णिया और समीपस्थ बंगाल के क्षेत्र को अलग भौगोलिक ईकाई माना जा सकता है ।[8] इस प्रकार मध्य गांगेय मैदान के अन्तर्गत उत्तर प्रदेश में इलाहाबाद की हंडिया और फूलपुर तहसील, मिर्जापुर जिले का कुछ उत्तरी भाग, वाराणसी की भदोही, वाराणसी और चन्दौली तहसीलें, प्रतापगढ़ की पट्टी तहसील, जौनपुर, सुल्तानपुर की सुल्तानपुर और कादीपुर तहसीलें, फैजाबाद, टाण्डा और अकबरपुर तहसीलें, गोण्डा की बलरामपुर और उतरौला तहसीलें, बस्ती, गोरखपुर, देवरिया, बलिया, गाजीपुर तथा आजमगढ़ जिलें एवं बिहार में तिरहुत, भागलपुर (किशनगंज तहसील को छोड़कर) और पटना संभाग सम्मिलित है ।[9] समुद्र तल से इस क्षेत्र की औसत ऊँचाई 170 मीटर है । यह देश का सबसे उपजाऊ तथा घना बसा क्षेत्र है । इस क्षेत्र की वनस्पतियाँ उष्णकटिबन्धीय शुष्क पर्णपाती हैं । लगातार बढ़ती हुयी आबादी का दबाव और उसके परिणाम स्वरूप मानव का विगत 4000 वर्षों से विशेषतया इस शताब्दी में कटाई - जुताई - बुआई के परिणाम स्वरूप प्राकृतिक वन - सम्पदा

---

(7) सिंह, आर० एल० (सं०) 1971, इण्डिया: ए रीजनल ज्याग्राफी, पृ० 124.

(8) स्पेट, वही ।

(9) सिंह, आर० एल०, 1971, (सं०) पूर्वोक्त ।

लगभग समाप्त सी हो गयी है । आजकल कुछ विशेष प्रकार के पौधों को छोड़कर हर तरह की वनस्पति उगाई जाती है । जो कि यत्र - तत्र बिखरी हुयी है । जबकि 50 वर्ष पहले भी इस क्षेत्र में वनस्पतियों के बड़े - बड़े क्षेत्र थे । जंगली जन्तु भी बहुतायत में थे । मुख्य रूप से काला हिरन, चीतल, नील गाय, लकड़बग्घा, भालू, सियार, लोमड़ी, शाही इत्यादि । काला हिरन के झुन्ड जो कि कई सैकड़े में होते थे गाँव के समीप में देखे जा सकते थे । वनस्पति क्षेत्रों का कृषि क्षेत्रों में परिवर्तन हुआ और स्वतन्त्रता के बाद आसानी से सुलभ बन्दूकों ने लगभग पूरे तौर पर चीतल और काले हिरन को और अत्यधिक रूप में अन्य जन्तुओं की आबादी को कम कर दिया है । प्रमुख वनस्पतियों में ढाक, कैथा, बेल, पीपल, बरगद, गूलर, जामुन, आम, महुआ, शीशम, नीम, धतूर, मदार, सिहोर, रूस आदि का उल्लेख किया जा सकता है ।[10] वृक्षों में सबसे अधिक आम के बगीचे मिलते हैं जो फल और लकड़ी दोनों दृष्टियों से लोगों को बहुत प्रिय है । फलों में आम एक अत्यधिक स्वादिष्ट और स्वास्थ्य वर्धक फल माना जाता है । आँवला, बेल,कटहल के वृक्ष भी बगीचों में पाये जाते हैं । वर्तमान में बागों के किनारे तथा खेतों के मेड़ पर बहुत से युकिलिप्टस के वृक्ष भी लगा दिये गये हैं । बेर, अमरूद के बगीचे भी कहीं - कहीं पाये जाते हैं । नीम, बबूल, चिलबिल, लसोढ़ा पूरे क्षेत्र में पाये जाते हैं । बाँस भी प्रायः गाँवों के पास देखने को मिलता है । साल, तून, खैर और सेमल , के जंगल सवाई घास तथा नरकट और झाड़ की घनी झाड़ियाँ,आसन, खैर, व-[illegible] पहाड़ी ढालों पर घने जंगलों में अनेक प्रकार की लताएँ (अमर बेल, गुरीच आदि) भी पायी जाती हैं ।

---

(10) पाल, जे0 एन0,प्रतापगढ़ जनपद में पुरातात्त्विक अन्वेषण, मानव अंक, पृ0 120

खाद्य सामग्री के अन्तर्गत फसलों में गेहूँ, जौ, चना, मटर गन्ना, तीसी, पोस्ता, सरसों, मसूर, अरहर, तम्बाकू, धान, बाजरा, काली बजड़ी, सन, मूँग, उर्द, कोदों, साँवा, मूँगफली, मकरा, काकुन, रुई, अरहर, शकरकन्द आदि उल्लेखनीय है ।

मध्य गंगा के मैदान की जलवायु ऊपरी गंगा के अपेक्षाकृत शुष्क और निम्न गंगा के मैदान के नम जलवायु के बीच की है । ग्रीष्म ऋतु में इस क्षेत्र में प्रचण्ड गर्मी तथा शीत ऋतु में [illegible] ठंडक पड़ती है । लगभग 90 प्रतिशत वर्षा मानसून से होती है । औसत वार्षिक वर्षा 100 सेमी0 से भी अधिक होती है । मध्य गंगा के मैदान में पूर्व की अपेक्षा पश्चिम में औसत वर्षा कम होती है इसी तरह से उत्तर की तुलना में दक्षिण में वर्षा का औसत कम होता है । दिसम्बर, जनवरी के महीनों में निम्नतम और अधिकतम तापमान का औसत लगभग 50 और $85^0$ (10 और $29.4^0$) है, तथा मई में औसत तापमान बढ़कर $100^0$ ($37.8^0$) तक हो जाता है । गंगा उत्तर प्रदेश के उत्तर काशी जिले के 5611 मी0 ऊँचे गंगोत्री ग्लेशियर से भागीरथी के नाम से निकलती है । बिहार तक आते - आते इसमें यमुना, गण्डकी, घाघरा, धौली, पिण्डार, अलकनन्दा, मन्दाकिनी, रामगंगा आदि नदियाँ मिल जाती है अन्तत: यह बंगाल की खाड़ी में गिर जाती है ।

इस घाटी में ($21^0$ 25' - $26^0$ 50' उ0, $86^0$ 30' - $89^0$ 58' पू0) लगभग 80, 968 वर्ग किलोमीटर का क्षेत्र आता है । इस घाटी के अन्तर्गत उत्तर में हिमालय के दार्जिलिंग स्थान से दक्षिण में बंगाल की खाड़ी तक तथा पश्चिम में छोटा नागपुर के उच्च भूमिस्थल से लेकर पूर्व में बंगला देश तथा असम की सीमा का क्षेत्र आता है ।

निचली गंगा घाटी में बिहार प्रान्त के पूर्णिया जिले की किशनगंज तहसील, पूर्ण बंगाल प्रान्त (पुरुलिया जिला तथा दार्जिलिंग के पहाड़ी भाग को छोड़कर) तथा बंगला देश का अधिकतम भाग आता है ।[11]

गंगा का निचला मैदान वास्तव में गंगा नदी का डेल्टाई क्षेत्र है । इस मैदान की पूर्वी सीमा भारत व बांग्ला देश के बीच अन्तर्राष्ट्रीय सीमा है । दक्षिण पश्चिम में 150 मीटर समोच्च रेखा इसकी सीमा बनाती है । इस सम्पूर्ण मैदान भाग में गंगा नदी प्रमुख है जो कि इस भाग में पश्चिम से प्रवेश करके दक्षिणपूर्व दिशा में प्रवाहित होती है । गंगा से निकलकर समुद्र में गिरने वाली कई शाखाएं इस निचले मैदानी भाग के अपवाह तन्त्र में अपना स्थान रखती हैं । निचली गंगा घाटी में गंगा की पश्चिमी शाखा भागीरथी, जिसे आगे चलकर हुगली कहते हैं, अत्यधिक महत्वपूर्ण है । यह समतल तथा अत्यन्त उपजाऊ मैदान है अतः इस प्रदेश में धान, जूट, चाय, गन्ना तथा तम्बाकू आदि फसलें पैदा की जाती हैं ।[12]

मध्य गंगाघाटी का परिवेश

गंगा के मध्यवर्ती मैदान के उत्तर में स्थित संलग्न हिमालय के दक्षिणी ढालों पर वर्षा अधिक होती है । गंगा के दक्षिण में स्थित संकरा मैदानी उत्तरी मैदानी भाग की अपेक्षा सागर तल से कुछ अधिक ऊंचा है तथा यहां प्रायद्वीपीय पठार से नदियों द्वारा बिछाये गए कांप मिट्टी के अवसादों का जमाव काफी गहराई तक हुआ है ।

गंगा की सहायक नदियों में घाघरा तथा उसकी सहायक कुआनो, राप्ती, छोटी गण्डक, गण्डक, बूढ़ी गण्डक, कोसी, वरुणा, गोमती तथा उसकी सहायक सई एवं सोन नदियां उल्लेखनीय है । इस क्षेत्र में बहुत सी धनुषाकार झीलें भी हैं,

---

(11) सिंह, आर० एल० (1971), उपरोक्त, पेज - 252.
(12) मैमोरिया, सी० बी० (1995), उपरोक्त, पेज 1050 - 55.

जिनसे छोटी - छोटी नदियाँ निकलती हैं ।

गंगा की सहायक नदियों में सबसे प्रमुख नदी घाघरा है जो हिमालय पर्वत से निकलती है । यह फैजाबाद जिले के उत्तरी सीमा पर प्रवाहित होती है । पौराणिक परम्परा के अनुसार इस पवित्र नदी को मानसरोवर झीलसे जहाँ ब्रह्मा ने विष्णु द्वारा बहाये गये आनन्द के आँसुओं को एकत्रित किया था, मुनि वशिष्ठ द्वारा जनता की प्रार्थना पर अयोध्या लाया गया । इसीलिए सरयू को कभी - कभी वशिष्ठ की कन्या और वशिष्ठ गंगा भी कहा जाता है । किंवदन्ती है कि अयोध्या में गुप्तार घाट पर भगवान श्री रामचन्द्र हमेशा के लिए गुप्त हुए थे । इसी कारण यहाँ पर इस नदी को हिन्दुओं की अति पवित्र नदी माना गया है । यह नदी नेपाल की तराई से निकल कर बहराइच जनपद में प्रवाहित होती है । अल्मोड़ा में इसे सरयू ही कहते हैं ।[13] बहराइच में 90 किलोमीटर तक प्रवाहित होने के बाद कौड़ियाल से मिल जाती हैं । इसके प्राचीन प्रवाह मार्ग को देखने से लगता है कि

---

(13) इस नदी के ऊपरी भाग में भूतात्त्विक अध्ययनों से पता चलता है कि अपने उद्भव स्थल पर यह एक हिम नदी है । इसके चतुर्थकालीन जमावों का भी ऊपरी भाग में अध्ययन किया गया है जिसमें बोल्डर, ग्रेवेल, नीसीम और क्वार्टजाइट और दूसरे प्रस्तर पिण्ड प्राप्त होते हैं । असम्भव नहीं कि प्राचीन काल में यह नदी अपने साथ लघु - पाषाण उपकरणों के निर्माण में प्रयुक्त प्रस्तर पिण्ड भी लायी जिसका प्रयोग गंगा घाटी के मध्य पाषाण कालीन मानव ने किया था, देखिए, चम्याल, एल0 एस0, 1987, 'ए प्रीलिमिनरी नोट आन दि क्वाटरनरी डिपाजिट्स आफ दि अपर सरयू बेसिन इन कुमायूँ हिमालय', मैन एण्ड इनवायरनमेन्ट, वैल्यूम 11,

प्राचीन काल में कोड्यिाल से भिन्न धारा में प्रवाहित होती हुई यह घाघरा नदी में मिलती थी । इसके प्राचीन प्रवाह मार्ग को छोटी सरयू के नाम से जाना जाता है जो बहराइच से 1.5 किमी0 हटकर बहराइच से निकलके गोण्डा जनपद में घाघरा में मिलती है । सरयू घाघरा संगम के बाद यह नदी घाघरा के ही नाम से जानी जाती है । अयोध्या में भी इसे सरयू नदी कहते हैं । घाघरा की अन्य सहायक नदियों में भिरूआ, पिकिया का उल्लेख किया जा सकता है ।[14]

गोमती नदी जिला पीली भीत के गोमतताल से निकली है और अवध के खीरी, सीतापुर, लखनऊ, बाराबंकी और सुल्तानपुर जिले से होती हुई तहसील शाहगंज के परगना चांदा में प्रवेश करती है । यह गाजीपुर में सैदपुर के निकट गंगा में गिर जाती है । वर्षा के दिनों में इसमें बाढ़ आ जाती है क्योंकि इसकी सहायक नदियाँ पीली और सई है ।[15] इसके तटवर्ती अनेक स्थानों से महत्वपूर्ण पुरातात्विक अवशेष मिले हैं । इनसे इस भूभाग में विभिन्न युगों में बसने वाले लोगों की सभ्यता एवं संस्कृति पर प्रभूत प्रकाश पड़ता है ।[16]

गण्डक नदी भी गंगा की प्रमुख नदियों में एक है । यह नदी अपनी सात सहायक नदियों के साथ मध्य हिमालय में नेपाल की उत्तरी सीमा और

---

(14) वर्मा, विजय प्रकाश, 1993, [illegible] जनपद का पुरातत्व, पृष्ठ 5-7, शोध प्रबन्ध इलाहाबाद विश्वविद्यालय ।

(15) सय्यद इकबाल अहमद, शर्की राज्य [illegible] का इतिहास, (जौनपुर, 1968) पृ0 - 815; ए0 ई0 स्माइल्स, दी [illegible] आफ दी डाउन्स, (लन्दन) 1953, पृ0 23 ।

(16) दूबे, राजदेव, प्रमोद कुमार 1988, जौनपुर का ऐतिहासिक एवं [illegible] व्यक्तित्व, पृ0 7 वाराणसी ।

तिब्बत में विस्तृत हिमालय की [illegible] पहाड़ियों के समीप मानग मोह एवं कुलांग के समीप से निकलती है । नेपाल में इसे सप्तगण्डकी के नाम से पुकारते हैं । यह लगभग 120 किमी0 दूर तक उत्तर प्रदेश व बिहार की सीमा बनाती है । इसकी दिशा मार्ग घाघरा की भांति ही दक्षिण पूर्व दिशा में है । यह नदी पटना से पूर्व में हाजीपुर एवं सोनपुर के मध्य बहती हुयी मुजफ्फरपुर एवं सारन जिलों की सीमा बनाते हुए गंगा में प्रवेश कर जाती है ।[17]

बूढ़ी गण्डक सोमेश्वर श्रेणियों के पश्चिमी भाग से निकल कर बिहार के उत्तरी - पश्चिमी जिले प0 चम्पारण में प्रवेश करती है । यह नदी चम्पारण मुजफ्फरपुर, दरभंगा और उत्तरी मुंगेर जिलों में प्रवाहित होती हुई गंगा में समा जाती है । इसकी मुख्य सहायक नदियाँ है - पंडई मनियारी, कापन, मसान, बाणगंगा, करहहा, उरई, तेलाबे, तियर, प्रसाद आदि । बूढ़ी गण्डक चम्पारण जिले में गण्डक नदी के बिल्कुल समानान्तर प्रवाहित होती है । इन दोनों नदियों का भू वैज्ञानिक अतीत एक सा रहा है ।[18]

कोशी नदी का निर्माण वस्तुत: पूर्वी नेपाल में स्थित सप्तकौशिकी क्षेत्र में प्रवाहित होने वाली सात जलधाराओं से बनने वाली तीन नदियों (तांबर, अरुण, और सुनकोशी) के संगम से हुई है । त्रिवेणी के बाद से ही इस संयुक्त धारा को कोशी कहा जाता है । कोशी अपना प्रवाह मार्ग परिवर्तित रहने के कारण ' बिहार की शोक नदी ' के नाम से मशहूर रही है । इसका पौराणिक नाम

---

(17) अहमद, इम्तियाज, कमर अहसन, 1994, बिहार एक परिचय, पृ0 55-56, पटना ।

(18) वही, 1994 पृष्ठ 56, पटना ।

कौशिकी है । यह बिहार में गंगा की सबसे लम्बी सहायक नदी है । इस नदी ने दो सौ वर्षों में अपना मार्ग लगभग एक सौ किमी0 पश्चिम की तरफ बदल लिया है । यह भयंकर बाढ़ों के लिये बदनाम रही है । इसकी प्रमुख सहायक नदी कमला नदी है । पूर्णिया जिले में गोगरी कस्बे के समीप गंगा में मिलने के पूर्व यह अपनी डेल्टा बनाती है ।[19]

सोन नदी का उद्गम गोण्डवाना क्षेत्र में स्थित मैकाल पर्वत के अमरकन्टक नामक पठारी भाग से हुआ है । यह नदी छोटा नागपुर के पठार की ओर से गंगा में मिलने वाली सबसे बड़ी नदी है । बिहार में इसका एक तिहाई भाग ही प्रवाहित होता है । यह नदी पलामू - रोहतास, औरंगाबाद, रोहतास, भोजपुर पटना जिलों की सीमा बनाती हुई प्रवाहित होते हुए पटना से पहले दानापुर से 16 किमी0 दूर गंगा में मिल जाती है । इसकी मुख्य सहायक कोयल नदी है । सोन को प्राचीन काल में हिरण्यवाह, सोआ, मागधी, आदि नामों से पुकारा गया है ।[20]

<u>बरना नदी</u> इलाहाबाद के मदाहन झील से निकलकर 60 मील तक मिरजापुर और जौनपुर की सीमा स्थापित करती हुई बनारस नगर में गंगा से मिल जाती है ।[21]

सई नदी, गोमती की प्रमुख सहायक नदी है । यह नदी हरदोई जिले की झील से निकल कर लखनऊ को उन्नाव से विभाजित करती हुई रायबरेली प्रतापगढ़

---

[19] वही, पृष्ठ 56, पटना ।

[20] वही, पृष्ठ 56, पटना ।

[21] दुबे, राजदेव एवं सिंह, प्रमोद कुमार, 1988,

से होती हुई जौनपुर परगना गद्वारा में प्रवेश करती है । यह राजेपुर के पास गोमती में गिरती है ।[22]

वस्तुत: गंगा तथा उसकी सहायक नदियों द्वारा गंगा के मैदान का निर्माण हुआ है । जैसे-जैसे पूर्व की ओर बढ़ते हैं नदियों में वर्षा ऋतु में बाढ़ अधिक दिखाई पड़ती है । पूर्व में कोसी नदी विशेष रूप से भयावह हो जाती है, जो 24 घंटे के अन्दर 10 मीटर तक बढ़ जाती है । अन्य नदियों घाघरा, बड़ी गंडक, बूढ़ी गंडक कामला में बाढ़ का प्रकोप अपेक्षाकृत कम है। इन नदियों का पाट चौड़ा है । इस क्षेत्र में धनुषाकार झीलों की एक लम्बी श्रृंखला है । बूढ़ी गंडक के प्राचीन प्रवाह मार्ग में इस तरह की एक श्रृंखला 363 वर्ग किमी0 के क्षेत्र में विस्तृत है। इस प्रकार पश्चिमी उत्तर प्रदेश की तुलना में बिहार का क्षेत्र अधिक नम है । यही कारण है कि उत्तरी बिहार पूरे भारत में ताजे पानी की मछलियों का सबसे बड़ा भण्डार है । गंगा के दक्षिण में इस मैदान में जलोढ़ मिट्टी की मोटाई कम है । सम्पूर्ण क्षेत्र को भांगर और खादर दो भागों में विभाजित किया जा सकता है । भांगर प्राचीन मैदान है, खादर नदियों के नमी जलोढ़ मिट्टी से निर्मित होता है, जो बरसात के बाद रबी की खेती के लिये उपयुक्त माना जाता है । खादर मिट्टी में हल्की बलुई दोमट मिट्टी होती है जिसका अधिकांश क्षेत्र बड़ी गन्डक और गंगा के उत्तर और पूर्व में 32 मिमी0 तक के क्षेत्र में पट्टी के रूप में मिलता है जो मुख्यत: मटियार मिट्टी है, जिसमें कहीं-कहीं चूने से युक्त मिट्टी और दोमट मिट्टी मिलती है ।

इस क्षेत्र की अन्य प्रमुख झीलों में देवहट झील, मझझील, गझ्वा झील, हसेवर झील, डोमन झील {सभी फैजाबाद जनपद} जमुताई, अरे-बरे, चिताव, करनौली,

---

{22} वही, पूर्वोक्त, पृष्ठ 7.

सरायभोगी, दोहावर, जमुआ, खोसीपुर, पैसारा, लवामन, गुजरा, (जौनपुर जनपद) गोखुर आदि का उल्लेख किया जा सकता है ।

भारत के औद्योगिक नक्शे पर, चीनी को छोड़कर, गंगा के मध्यवर्ती मैदान के कुछ उद्योगों के होने पर भी शून्य है । इस विशाल मैदानी भाग में खनिजों के अभाव के कारण कृषि से उपलब्ध संसाधनों पर ही आधारित उद्योग प्रधान हैं । चीनी के प्रमुख उद्योग होने से अधिकांश कारखाने उत्तरी मैदानी भाग में पूर्व से लेकर चम्पारन, सारन, देवरिया, गोरखपुर होते हुए गंगा एवं घाघरा के उत्तर स्थित मैदानी भाग में उपलब्ध है । कुछ ही कारखाने घाघरा व गंगा के दक्षिण में हैं । उत्तर प्रदेश में यह कारखाने सरयू के दक्षिण पटना, गया, इलाहाबाद, बलिया, आजमगढ़, जौनपुर, फैजाबाद, सुल्तानपुर, वाराणसी जनपदों में एक या दो की संख्या में स्थित है ।[23] उत्तरी मैदानी भाग में उद्योग सीमित है । बरौनी में तेल तथा पेट्रोकैमिकल्स रेलवे उद्योग जमालपुर, गोरखपुर, जूट उद्योग कटिहार, समस्तीपुर तथा सहजनवां (गोरखपुर) में स्थापित है । यद्यपि सूती वस्त्र उद्योग के बड़े कारखाने नहीं है परन्तु पावरलूम तथा हैण्डलूम उद्योग के मध्यम एवं लघु वर्ग के उद्योगों के रूप में सूती वस्त्र उद्योग पटना (फुलवरिया शरीफ), मधुवनी, बिहार शरीफ, बक्सर, गया, मुबारकपुर, मऊ, वाराणसी, जलालपुर टाण्डा तथा खलीलाबाद में स्थापित है । भागलपुर अपने टसर के वस्त्रों के लिए तथा वाराणसी बनारसी रेशम की साड़ी के लिए देश में विख्यात है, कालीन उद्योग के मुख्य केन्द्र मिर्जापुर एवं भदोही हैं जो देश एवं विदेशी बाजारों को कालीन का निर्यात करते हैं । इस मैदानी भाग

---

(23) मिश्र, जे० पी० (1985), पेज 413-414.

के मध्यवर्ती दक्षिणी पश्चिमी भाग में डालमियानगर एक प्रमुख औद्योगिक केन्द्र है जहाँ कागज, सीमेन्ट, चीनी, रसायन कार्डबोर्ड, प्लाईवुड, वनस्पति तेल तथा अन्य कई उद्योग हैं। इसके अतिरिक्त वाराणसी में सिल्क, रेल के डीजल इंजन, साहूपुरी का वृहद रसायन उद्योग, रामनगर का शीशा उद्योग, साइकिल एवं घंटी उद्योग तथा दाल उद्योग प्रमुख हैं। पटना, भागलपुर, गया, मुजफ्फरपुर दरभंगा, गोरखपुर तथा मिर्जापुर आदि नगरों में इण्डस्ट्रीयल स्टेट की स्थापना कर अनेक मध्यम तथा लघु उद्योगों को स्थापित करके विकसित करने का प्रयास किया गया है। भारत में सिग्रेट का सबसे बड़ा कारखाना मुंगेर में है।

मध्य गंगा घाटी की परिवर्तित स्थिति तथा सामाजिक आर्थिक व्यवस्था ने जो कि सहस्त्रों वर्ष की सभ्यता के पश्चात् व्यवस्थित हुई है, इस क्षेत्र को सम्पूर्ण भौगोलिक सुयुक्ति प्रदान की है। विकास के क्षेत्र में भी अन्तर्क्षेत्रीय विभिन्नता देखने को मिलती है इस क्षेत्र के उत्तरी व दक्षिणी किनारे क्षेत्रीय मुख्य धाराओं के साथ विकास, विस्तार तथा सम्मिलन की ओर अग्रसर है। मध्य गंगा घाटी भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के विकास की दृष्टि से सम्पूर्ण गंगा घाटी में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। इस क्षेत्र में अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा पुरातात्त्विक सर्वेक्षण भी अधिक हुआ है। इस क्षेत्र में बहुत से स्थलों से पुरातात्त्विक अवशेष स्तरित तथा अस्तरित स्थलों से प्रकाश में आये हैं।

## सांस्कृतिक अनुक्रम :-

गंगा घाटी में सांस्कृतिक अनुक्रम का विवरण निम्न प्रकार से दिया जा सकता है। कुछ दशक पूर्व मध्यगंगा घाटी में मानव इतिहास के ज्ञान का सूत्र ऐतिहासिक काल से पहले नहीं पहुँच पाता था। मध्य गंगा घाटी में प्रयाग विश्व

विद्यालय द्वारा की गयी खोजों ने इसे भारत के प्रागैतिहासिक मानचित्र पर रख दिया है[24] । प्रारम्भिक नूतन काल के इस क्षेत्र में दक्षिण से मध्य पाषाणिक मानव के आगमन के प्रमाण मिलते हैं । इस क्षेत्र की प्रथम पाषाण संस्कृति मध्य पाषाण काल से संबन्धित है, जिसे स्तरीकरण, उपकरण प्रकार और तकनीक के आधार पर तीन वर्गों में विभाजित किया गया है -

(1) अनुपुरा पाषाणकाल

(2) अज्यामितीय मध्य पाषाण काल

(3) ज्यामितीय मध्य पाषाण काल

इन संस्कृतियों के 200 से भी अधिक स्थल प्रकाश में आये हैं, जिनमें से तीन स्थलों सरायनाहर राय, महदहा, दमदमा का उत्खनन पुरातात्त्विक अन्वेषणों से नव-पाषाण संस्कृति के भी कई स्थल प्रकाश में आये हैं । कुछ स्थलों का उत्खनन भी हुआ जो नव-पाषाण संस्कृति के पुनर्निर्माण में सहायक है[25] । गौतम बुद्ध का कार्यक्षेत्र मुख्य रूप से मध्य गंगा घाटी ही था, और उनके पहले का इस क्षेत्र का इतिहास अन्धकार के आवरण से आवृत्त था । पुरातत्वविदों द्वारा रामायण में वर्णित स्थलों के पुरातात्त्विक अन्वेषण से भी

---

24. शर्मा, जी0 आर0 और अन्य, 1980, विगिनिंग्स आफ एग्रीकल्चर, इलाहाबाद

25. सिंह पुरुषोत्तम, 1997, नियोलिथिक कल्चर्स आफ नार्दर्न एण्ड नार्थवेस्टर्न इण्डिया : एन असेसमेन्ट आफ दिअर , इन्डियन प्री हिस्ट्री : 1980 (सम्पादक वी0डी0 मिश्र एवं जे0एन0 पाल, पृ0 152 - 160 ।

इस क्षेत्र के पुरातत्व,इतिहास और संस्कृति पर उल्लेखनीय प्रकाश पड़ा है । इन स्थलों का उत्खनन भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण और इन्स्टीट्यूट आफ एडवान्स स्टडी, शिमला द्वारा प्रो० बी० बी० लाल के निर्देशन में 'रामायण संस्कृति की खोज' के सन्दर्भ में किया गया । अयोध्या में पहले काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा भी उत्खनन किया गया था । इन स्थलों पर मिलने वाली सबसे पहली संस्कृति उत्तरी कृष्ण ओपदार पात्र परम्परा § एन० बी० पी० § के ठीक पहले की संस्कृति है जिसे 800 ई० पू० से 600 ई० पू० का समय प्रदान किया जा सकता है । श्रृंगवेरपुर की प्रथम संस्कृति-गैरिक मृदभांड संस्कृति § 1050 से 1000 ई० पू० §, द्वितीय संस्कृति - ताम्रपाषाणिक संस्कृति § 950 से 700 ई० पू० § और तृतीय संस्कृति - उत्तरी कृष्ण ओपदार पात्र परम्परा की संस्कृति 750 से 250 ई० पू० है[26] । इसी प्रकार का अनुक्रम झूंसी के उत्खनन से भी प्राप्त हुआ है[27] ।

इस प्रकार अब तक इस क्षेत्र में किये गये पुरातात्विक अध्ययनों से जो सांस्कृतिक क्रम प्रकाश में आया है उसे निम्न संस्कृतियों के अन्तर्गत रखा जा सकता है :-

§1§ मध्य पाषाण काल

§2§ नव पाषाण काल

§3§ ताम्र पाषाण काल

§4§ प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल

---

1• लाल,बी०बी० और दीक्षित के०एन०,§1977§,श्रृंगवेरपुर : ए साइट फार द प्रोटो हिस्ट्री एण्ड अर्ली हिस्ट्री आफ दी सेन्ट्रल गंगा वैली,इण्डियन प्री हिस्ट्री, 1980, सम्पादित वी०डी० मिश्र, जे०एन०,पाल,पेज 303-307 ।

2• मिश्रा,वी०डी०,वी०वी०मिश्र,जे०एन०पाण्डेय और जे०एन० पाल 1995-96, ए प्रिलिमिनरी रिपोर्ट आन दि इक्सकेवेशन्स एट झूंसी,1995,प्राग्धारा 6, पृ० 63-66 ।

## अध्याय - दो

## संजाति पुरातत्व सम्बन्धी आँकड़े - पूर्ववर्ती नृतत्व शास्त्रियों के शोधों के आधार पर

गंगा के मैदान में इस शदी में आदिम जातियों के जो कुछ नृतत्वीय विवरण उपलब्ध है उनका विस्तृत विवरण वी०एन० मिश्र और मालती नागर ने प्रस्तुत किया है[1] । शैक्षिक एवं आर्थिक विकास की दृष्टि से इन्हें अनुसूचित जनजातियों का नाम दिया गया है जो 300 विभिन्न समुदायों में विभाजित की गयी है । अनुसूचित जन-जातियों की कुल जनसंख्या 1981 की जनगणना के अनुसार 53828638 अर्थात सम्पूर्ण भारत की जनसंख्या का प्राय: 7•8 प्रतिशत है। उत्तर प्रदेश में इनकी जनसंख्या 232705 है[2] । बिहार में इनकी जनसंख्या 5810867 है । 1991 की जनगणना के अनुसार भारत में इनकी जनसंख्या 6•78 करोड़ तक पहुँच गयी है । जिसमें कि उत्तर प्रदेश का योगदान •21 प्रतिशत तथा विहार का 7•66 प्रतिशत का है । यद्यपि मध्य प्रदेश में सर्वाधिक जनजातियाँ पायी जाती हैं ।

ये जनजाति समुदाय मुख्यत: देश के पहाड़ी एवं जंगली भागों में यथा अरावली, विन्ध्य, सतपुड़ा, पश्चिमी एवं पूर्वी घाट, छोटा नागपुर का पठार और पूर्वोत्तर भारत के ब्रह्मपुत्र घाटी में निवास करती हैं । क्योंकि भौगोलिक संरचना के कारण यह क्षेत्र सिंचित कृषि और सुविधाजनक मालवाहन तथा संचार के लिये उपयुक्त नहीं है । अत: यह क्षेत्र विकसित खेती के लिये लोगों को तब तक आकर्षित नहीं कर सके

---

1• मालती नागर, एण्ड वी०एन० मिश्रा, 1990, दी कन्जर्स : ए हन्टिंग गेदरिंग कम्यूनिटी आफ दी गंगा वैली, यू०पी०; मैन एण्ड इनवायरनमेन्ट 15(2):71-78 मालती नागर एण्ड वी०एन० मिश्रा, 1989, हन्टर गेदरर्स इन एन एग्रेरियन सेटिंग दी नाइन्टीन्थ सेन्चुरी सिचुएशन इन दी गंगा प्लेन्स, मैन एन्ड इनवायरनमेन्ट, 13:65-78 ।

2• डी०एन० मजुमदार और मदन, 1961, सोसल ऐन्थ्रोपोलाजी, पृ० 253

जब तक कि मैदानी भागों में रहने वाले समुदायों को इस कम [illegible] वातावरण में खेती करने के लिये बाध्य नहीं होना पड़ा, इसलिए ये जनजाति समुदाय अपने परम्परागत कार्यों जैसे शिकार करना, मछली पकड़ना, खाद्य संग्रह की प्रवृत्ति, एवं ग्रामीण तथा सांस्कृतिक पहचान कोअपनाये रखने में समर्थ रहे हैं।

' स्थानीय आदिम समूहों के किसी भी संग्रह को, जो एक सामान्य क्षेत्र में रहता हो, एक सामान्य भाषा बोलता हो और सामान्य संस्कृति का अनुसरण करता हो,' एक जनजाति कहते हैं।

डा० रिवर्स ने सामान्य निवास स्थान को महत्व न देते हुये जनजाति को ऐसे सरल प्रकार का सामाजिक समूह बताया है जिसके सदस्य एक सामान्य भाषा का प्रयोग करते हों तथा युद्ध आदि सामान्य उद्देश्यों के लिये सम्मिलित रूप से कार्य करते हों[1]। डा० रिवर्स ने सामान्य निवास स्थान को इसलिए महत्व नहीं दिया क्योंकि [illegible]" प्रायः घुमन्तू या खानाबदोश होती हैं किन्तु डा० मजूमदार का कथन है कि इसका यह अभिप्राय नहीं है कि जनजातियों का अपना एक सामान्य क्षेत्र नहीं होता। घुमन्तू प्रकृति के होते हुए भी उनका एक विशिष्ट निवास स्थान होता ही है[2]।

मजूमदार ने अपनी परिभाषा में एक जनजाति की सभी विशेषताओं को स्पष्ट किया है "एक जनजाति परिवार या परिवारों के समूह का एक संकलन होता है, जिनका एक सामान्य नाम होता है, जिनके सदस्य एक निश्चित भू-भाग पर रहते हैं, सामान्य

---

1. मजूमदार, डी०एन०, 1958, रेसेज एन्ड कल्चर्स आफ [illegible] पृ० 356।

2. वही।

भाषा बोलते हैं और विवाह, व्यवसाय, उद्योग के विषय में कुछ निषेधों का पालन करते हैं और एक निश्चित एवं उपयोगी परस्पर आदान प्रदान की व्यवस्था का विकास करते हैं[1]"।

विभिन्न क्षेत्रों में पाई जाने वाली इन जनजातियों की अर्थव्यवस्था में भी अन्तर पाया जाता है। इनकी अर्थव्यवस्था विभिन्न स्तरों पर विकसित पाई जाती है। अधिकांश जनजातियाँ कृषि प्रधान हैं। कृषि अर्थव्यवस्था वाली जनजातियों में कृषि की कई विकसित अवस्थायें पायी जाती हैं। कहीं ये जन - जातियाँ स्थायी प्रकार की खेती करती हैं तो कहीं जंगलों को जलाकर कुछ समय के लिये वहाँ खेती करती हैं। कई जनजातियों में कृषि तथा आखेट सम्मिलित रूप से किया जाता है[2]। कुछ जनजातियाँ केवल आखेट पर ही जीविका निर्वाह करती हैं तो कहीं खाद्य संग्रह करना पड़ता है। डी० एन० मजुमदार[3] ने जनजातियों की अर्थव्यवस्था का सरल विश्लेषण प्रस्तुत किया है। जनजातीय अर्थव्यवस्था में जो आखेट या खाद्य संग्रह करने वाली है वे अधिक पिछड़ी तथा प्राचीन जनजातियाँ हैं। स्थायी कृषि वाली जनजातियाँ सांस्कृतिक स्तर पर विकसित हैं। झूम कृषि वाली जनजातियाँ इन दोनों के मध्य की कड़ी प्रतीत होती है। अर्थव्यवस्था का विकास खाद्य संग्रह से स्थायी कृषि की तरफ होता है। वर्तमान युग के सम्पर्क में आ जाने पर इनकी प्राचीन अर्थव्यवस्था टूटने लगी है। तथापि इनकी अर्थ - व्यवस्था अभी भी अपने वास्तविक रूप में देखी जाती है।

---

1. पूर्वोक्त
2. सिंह, राम प्रवेश और अनिल कुमार, 1926, मानव उद्‌भव तथा प्रजातीय अध्ययन
3. मजुमदार, डी० एन०, पूर्वोक्त

ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के पश्चात् देश में जनजातीय आवास के लिए सुरक्षित स्थानों के लिये एक नयी व्यवस्था का सूत्रपात हुआ । इस प्रक्रिया के विकास में योजनाबद्ध तरीके से जंगल एवं खनिज सम्पदा का उत्खनन, उद्योगों की स्थापना, रेलें, सड़क, संचार का विकास, मैदानी भागों में जनसंख्या का तीव्र विकास, कानून-व्यवस्था में सुधार, चिकित्सा सुविधा, सामान्य आर्थिक विकास नें योगदान दिया । स्वतन्त्रता के पश्चात् इसका उत्तरोत्तर विकास हुआ । परिणाम स्वरूप जनजातीय संस्कृति मूलतः अधिक प्रभावित हुई और शायद ही आज कोई ऐसा क्षेत्र है जहाँ यह संस्कृति अपने पूर्व रूप में पूर्णतया सुरक्षित हो ।

इसके विपरीत हम देखते हैं कि पर्याप्त उपजाऊ एवं घनी बस्ती वाले मैदानों में भी ये जनजातियाँ अपने पूर्व कृषि-व्यवस्था या शिकारी - व्यवस्था बनाये रखने के बावजूद नये सामाजिक सांस्कृतिक व्यवस्था में घुल मिल गयी है । इस प्रकार की जीवन पद्धति के उदाहरण ऊपरी एवं मध्य गंगा घाटी में देख सकते हैं ।

पुरातत्वविद वर्तमान साधारण समाज से सजातीय समानताओं के आधार पर प्रागैतिहासिक समाज का अध्ययन कर रहे हैं[1] । प्रारम्भ में मानव जातियों का विवरण सामाजिक नृतत्वशास्त्रियों के अध्ययन के द्वारा प्रस्तुत किया गया । सामाजिक नृतत्वशास्त्रियों की रुचि मुख्यतः सामाजिक, धार्मिक और रीति रिवाजों पर ही केन्द्रित थी, और वे उस समाज की आर्थिक, तकनीकी और सांस्कृतिक संगठनों में बहुत कम रुचि रखते थे । इसके विपरीत पुरातत्वविद आदिम समाज के अध्ययन में बहुत ज्यादा रुचि रख रहे हैं ।

---

1. सोलाज, डब्ल्यू० जे०, 1924, एन्सिएन्ट हन्टर्स एन्ड दीअर मार्डर्न रिप्रेजेन्टेटिव्स

पिछले दो दशकों में पुरातत्वविदों एवं प्रागैतिहासिकविदों ने आदिम जनजातियों के अध्ययन में बहुत रूचि दिखाई है । बहुत से पुराविदों ने अपने को कुछ वर्तमान शिकारी एवं आखेटक समुदायों के रहन-सहन के आधार पर पुरा-पाषाण एवं मध्य पाषाण के आखेटक एवं खाद्य संग्राहक समाज का अध्ययन करने में संलग्न किया है । इस क्षेत्र में जिन महत्वपूर्ण व्यक्तियों ने अध्ययन किया है उनमें मुख्य रूप से जे० पी० व्हाइट[1], आर० बी० ली[2], रिचर्ड गोल्ड[3], जे० ई० एलन[4], इत्यादि उल्लेखनीय हैं ।

भारत में प्राचीन काल से ही बहुत बड़ी संख्या में शिकारी एवं संग्राहक समुदाय के लोग पाये गये हैं । इसमें से कतिपय जैसे बिरहोर[5], चेन्चा[6], कादर[7], के विषय में नृतत्वशास्त्रियों ने अध्ययन प्रस्तुत किया है । पिछले 10 वर्षों से भारतीय पुराविदों ने भी इस तरह की आवश्यकता पर बल दिया है । इनमें एम०एल०के० मूर्ति[8] ने यानिडि, इरुला और चेन्चा का विवरण,

---

1• व्हाइट, जे०पी० 167, एथनोआर्क्यालिजी इन न्यू गुयाना: टू इक्जाम्पिल्स , मैनकाइन्ड 6:409-414
2• ली,आर०बी०,1972,वर्क इफर्ट, ग्रुप स्ट्रक्चर, एन्ड लेन्ड यूज इन कन्टेमपोरेरी हन्टर्स गेदर्स, मैन सेटिलमेन्ट,एन्ड अर्बनिज्म,पृ0 177-185
3• गोल्ड, आर०ए०,1969,सब सिस्टेन्स विहेवियर एमन्ग दी वेस्टर्न डेजर्ट एबोरिजाइन्स आफ आस्ट्रेलिया,39:251-274; गोल्ड आर०ए०,1980,लिविंग आर्क्योलजी ।
4• एलन,जे०ई०, 1977, आर्क्योलाजिकल एप्रोचेज टू दी प्रजेन्ट: माडल्स फार रिकन्सट्रक्टिंग दी पास्ट ।
5• राय,एस०सी०, 1925, बिरहोरस, ए लिटिल नोन जंगिल ट्राइब्स आफ छोटा नागपुर, मैन इन इण्डिया ।
6• हेमेनडार्फ, सी०वानएफ० 1943, दी चेन्चाज: जंगिल फाक आफ दी डेकन ।
7• इरनफल्स,यू०आर०वान, 1952, दी कादरस आफ कोचीन ।
8• मूर्ति,एम०एल०के०, 1981 ए, हन्टर गेदरर इकासिस्ट स एन्ड आर्क्योलाजिकल पेटर्न्स आफ सबसिस्टेन्स विहेवियर आन दी साउथ ईस्ट कोस्ट आफ [illegible]: एन एथनोग्रेफिक माडल, वर्ल्ड [illegible], 13 (1):47-58 ।

जे0 एस0 जयराज[1] ने यान्दि का और मालती नागर[2] के द्वारा गोंड और कुछ अन्य मध्य भारतीय जनजातियों का, एस0 सी0 नन्दा[3] के द्वारा प्रजा और कुछ उड़ीसा के अन्य वर्गों व , जेरीन कूपर[4] द्वारा कुसका और बी0 एन0 मिश्रा[5] के द्वारा वान व्रेगरी का डा0 एस0 चक्रवर्ती द्वारा विरहोर का विवरण महत्वपूर्ण है ।

उत्तर प्रदेश एवं बिहार जो मध्य गांगेय मैदान के अन्तर्गत है, अधिकांश आदिम जातियां इस समय यहां के पहाड़ी क्षेत्रों (उत्तर में हिमालय तराई दक्षिण में विन्ध्य क्षेत्र) में मिलती हैं । उत्तर प्रदेश के जनजातीय समूहों में निम्न समुदाय सम्मिलित किये जाते है ।[6]

---

1• जयराज, जे0 एस0, 1983, अर्ली हन्टर गेदरर्स एडापटेशन्स इन दी तिरुपति वैली, साउथ इण्डिया, पी0 एच0 डी0 थिसिस, पूना यूनीवर्सिटी ।

2–(क) नागर, एम0, 1982, फिशिंग एमन्ग दी ट्राइबल कम्युनिटीज आफ बस्तर एन्ड इट्स इम्प्लिकेशन्स फार आर्क्योलॉजी, बुलेटिन आफ दी डेकन कालेज रिसर्च इन्स्टीट्यूट 42:116-125 ।

(ख) नागर, एम0, 1985, दी यूज आफ वाइल्ड प्लान्ट फूड्स बाई एबोरिजनल कम्युनिटीज इन सेन्ट्रल इण्डिया - रिसेन्ट एडवान्सेज इन इन्डो-पैसिफिक प्री हिस्ट्री, पृ0-337-342 ।

(ग) नागर, एम0 एन्ड बी0 एन0 मिश्रा, 1989, हन्टर्स गेदरर्स इन एन अग्रेरियन सेटिंग:दी नाइन्टीन्थ सेन्चुरी सैचुएशन इन दी गंगा प्लेन्स, मैन एन्ड इनवाइरनमेन्ट 13: 65-78 ।

3• नन्दा, एस0 सी0, 1984, स्टोन एज कल्चर्स आफ इंद्रावती बेसिन, कोरापुत डिस्ट्रिक्ट, उड़ीसा, पी0 एच0 डी थिसिस, पूना यूनीवर्सिटी ।

4• कूपर, जेड0 एम0, 1986, दी कुक फिशरमेन आफ बस्तर डिस्ट्रिक्ट, सेन्ट्रल इण्डिया,ईस्टर्न एन्थ्रोपोलाजिस्ट 39(1) : 1-20 ।

5• मिश्रा, वी0 एन0, 1988, दी नोमैड्स आफ दी डेजर्ट: वान वेगरिस, दी इण्डिया मैगजीन 8: 46-51 ।

6• श्रीवास्तव, ए0 आर0 एन0, उत्तर प्रदेश की जनजातियां, पृ0 1-2 ।

प्रथम, वे जनजातीय समूह जिन्हें उ0 प्र0 सरकार की अनुसूचित जनजाति की सूची में अनुबद्ध किया गया है । इसमें 5 जनजातियाँ जून 1967 से सम्मिलित की गयी हैं । ये जनजातियाँ हैं:- बोक्सा, थारू, राजी, भोटिया एवं जौनसार बावर । 1971, 1981 और 1991 की जनगणनाओं में उपरोक्त पाँच समूहों का ही वर्णन हुआ है । इन पाँच समूहों की सम्मिलित आबादी 2•11 लाख है ।

दूसरी, महत्वपूर्ण बात-प्रदेश में कुछ समूह वास्तव में जनजाति विशेषता युक्त है लेकिन इन्हें 'अनुसूचित जाति' की सूची के अन्तर्गत दर्ज किया गया है । ये समूह हैं:- (1) कोल (2) गोंड़ (3) खरवार (4) अगेरिया (5) भुईंयाँ (6) चेरो (7) बासिया (8) कोरवा (9) ओराँव (10) पनिका (11) सहरिया (12) पठारी (13) परहिया इनकी सम्मिलित आबादी 2•93 लाख है ।

तीसरी, महत्वपूर्ण बात यह है कि दो समुदायों को जिन्हें जौनसारी प्रवर्ग और मुस्लिम गूजर कहा गया है, जनजातीय समूहों में दर्ज करने की बात विशेषज्ञों ने कही है । इनकी आबादी 1•33 लाख है । इन्हें गैर अनुसूचित जनजाति वर्ग कहा जा सकता है । अत: उपर्युक्त तीनों समूहों को मानव शास्त्रीय दृष्टिकोण से अनुसूचित जनजाति के अन्तर्गत ही मानना चाहिए ।

प्रदेश की सरकार ने अभी तक अनुसूचित जनजातियों की सूची में केवल 5 समूहों के नाम घोषित की हैं ।

| क्रम सं0 | जनजातियाँ | प्राप्ति स्थल | जनसंख्या |
|---|---|---|---|
| 11- | खरवार | (1) मिर्जापुर | |
| | | (2) वाराणसी | |
| 12- | कोल | (1) इलाहाबाद | |
| | | (2) वाराणसी | |
| | | (3) मिर्जापुर | |
| 13- | कोरबा | (1) झाँसी | |
| | | (2) मिर्जापुर | |
| 14- | धाँगर | मिर्जापुर | |
| 15- | परहिया | मिर्जापुर | |
| 16- | पनिका | मिर्जापुर | |
| 17- | पठारी | मिर्जापुर | |
| 18- | सहारिया | झाँसी | |

जनजातियों का विवरण निम्न तरीके से समझा जा सकता है ।[1]

(अ) पर्वतीय भाग:-

इस क्षेत्र में चमोली, पिथौरागढ़, उत्तरकाशी, नैनीताल, देहरादून अल्मोड़ा, पौड़ी गढ़वाल जिले आते हैं । यहाँ भोटिया, जौनसार, बाक्सा, राजी एवं जौनसारी प्रवर्ग और मुस्लिम गूजर निवास करते हैं।

(ब) तराई भाग:-

इस क्षेत्र में लखीमपुर खीरी, नैनीताल का मैदानी भाग, बिजनौर, बहराइच, गोण्डा, गोरखपुर, जिले जिसमें थारू और बोक्सा रहते हैं ।

(स) मैदानी भाग:-

जिसमें इलाहाबाद, मिर्जापुर, सोनभद्र, वाराणसी, सहारनपुर,

---

1• श्रीवास्तव, ए0 आर0 एन0 1992, पूर्वोक्त ।

उत्तर प्रदेश की जनजातियाँ एक नजर में[1]

| क्रम सं0 | जनजातियाँ | प्राप्ति स्थल | जनसंख्या |
|---|---|---|---|
| 1- | भोटिया | (1) अल्मोड़ा | 1558 |
| | | (2) चमोली | 6528 |
| | | (3) पिथौरागढ़ | 14845 |
| | | (4) उत्तर काशी | 1098-24029 |
| 2- | बोक्सा | (1) बिजनौर | 3158 |
| | | (2) नैनीताल | 18943 |
| | | (3) पौड़ी गढ़वाल | 892 |
| | | (4) देहरादून | 11201-34198 |
| 3- | जौनसारी | देहरादून | 63710-63710 |
| 4- | राजी | पिथौरागढ़ | 371-371 |
| 5- | थारू | (1) बहराइच | 5918 |
| | | (2) गोंडा | 10583 |
| | | (3) लखीमपुर खीरी | 16980 |
| | | (4) गोरखपुर | 1967 |
| | | (5) नैनीताल | 53406-211159 |
| 6- | अगरिया | मिर्जापुर | |
| 7- | भुइयाँ | मिर्जापुर | |
| 8- | चेरो | (1) मिर्जापुर | |
| | | (2) वाराणसी | |
| 9- | घसिया | मिर्जापुर | |
| 10- | गोंड | (1) झाँसी | |
| | | (2) मिर्जापुर | |
| | | (3) बाँदा | |

---

1• अमीर हसन, 1989, (अनु0) कृष्ण मोहन सक्सेना, उत्तर प्रदेश की जनजातियाँ, पृ0 151, 152, ।

जिले जिसमें सभी 13 जनजातियाँ जैसे गोड़, अगेरिया, सहरिया, कोल, पनिका, कोरवा व मुस्लिम गूजर निवास करते हैं ।

बिहार प्रान्त में पायी जाने वाली जनजातियों में संथाल, मुन्डा, उराँव, विरहोर, हो, असुर, भूमिज, बैगा, बजारा, मधुठी, बेदिया, विटिया, विरिजिया, केरो, चिक, बराइक, गोंड, गोरेट, करमाली, खरिया, खार, खोंड, किसान, कोरा, कोरवा, लोहरा या लोहर, मछली, कुल, पहाड़िया, सवर, परहइया, सोरिया, तथा पहाड़िया आदि उल्लेखनीय है ।[1]

बिहार[2] राज्य प्राचीन निवासियों और आदिवासियों के लिये भी प्रसिद्ध है । अब उत्तरी भारत की समतल तथा उपजाऊ भूमि पर आर्य लोगों ने छल कपट से आदि वासियों को भगाकर अपना अधिकार जमा लिया तो आदिवासियों ने पहाड़ी तथा जंगली इलाकों को ही अपना निवास स्थान बनाया । इसी क्रम में कुछ लोग छोटा नागपुर के पठार पर तथा कुछ लोग गंगा के किनारे-किनारे चलकर राजमहल की पहाड़ियों पर आ बसे । सम्भव है अगले आक्रमणों की विभीषिकाओं से बचने के लिये ही इन लोगों ने जंगलों और पहाड़, पर जहाँ आम लोगों का प्रवेश सहज नहीं है, बस जाना निरापद समझा हो । जनजातियों के एक वर्ग 'संथाल' का निवास स्थान संथाल परगना है । दूसरे वर्ग 'मुन्डा' का निवास स्थान राँची तथा एक अन्य वर्ग 'हो' का निवास स्थान सिंहभूम जिला है । ये जनजातियाँ मुख्यत: पहाड़ के नीचे समतल भूमि में रहती है और

---

1. हसनैन नदीम, 1990, जनजातीय भारत, पृ0-24।

2. शाहू, चतुर्भुज, 1995, योजना, दिसम्बर पृ0 2।

कृषि ही इन लोगों का प्रधान पेशा है । भौतिक संस्कृति में भी ये लोग काफी उन्नत हैं ।

पहाड़ में रहने वाली और जनजातियाँ हैं :-

सौरिया पहाड़िया, माल पहाड़िया, असुर, बिरजिया, पहाड़ी खड़िया, कोरवा इत्यादि । ये लोग झूम खेती करते हैं तथा साधारणत: एक स्थान से दूसरे स्थान पर अपने निवास स्थान बदलते रहते हैं । इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी भी जनजातियाँ हैं, जिनका न तो कोई स्थायी निवास स्थान है और न ही कोई आय का स्थायी साधन । ये लोग भोजन की खोज में एक स्थान से दूसरे स्थान पर भटकते रहते हैं । विरहोर ऐसी ही एक जाति है कुछ ऐसी भी जनजातियाँ हैं जो अपनी कुशल कारीगरी के कारण न केवल जनजातियों के बीच रहकर बल्कि गैर जनजातियों के बीच रहकर भी अपनी जीविका चला रही हैं । ये हैं:- महली, चीक, बड़ाइक, करमाली, लोहर आदि ।

जनजातीय दृष्टिकोण के आधार पर बिहार में 30 प्रकार की अनुसूचित जनजातियाँ हैं जिनकी कुल आबादी 1991 की जनगणना के अनुसार 86 लाख 85 हजार है जो बिहार की कुल जनसंख्या का 10.6 प्रतिशत है । यह आबादी देश की कुल आदिवासी आबादी का 10.77 प्रतिशत है ।[1]

संथाल[2] पूर्वी भारत की सबसे बड़ी जनजाति है ये लोग बिहार के संथाल परगना जिले में मुख्य रूप से केन्द्रित है । 1961 ई0 की जनगणना के अनुसार बिहार प्रान्त में 1541345 संथाल हैं । संथाल परगना जिले में इनकी कुल आबादी

---

1. वही, पृष्ठ 71 ।
2. सिंह, राम प्रवेश और अनिल कुमार, 1976 पूर्वोक्त पृष्ठ-192,

877485 है । संथालमध्यम कद तथा दीर्घ से प्रशस्त कपाल के होते हैं । इनकी नाक मध्यम आकार की तथा ललाट के समीप कुछ दबी रहती है । शरीर का रंग गहरा रहता है । यह भारत के विशाल मुन्डा भाषा समुदाय की एक शाखा है ।

मुन्डा[1] बिहार के छोटा नागपुर-प्रदेश में रहने वाले प्रमुख आदिवासी हैं । 1961 ई0 की जनगणना के अनुसार बिहार में इनकी कुल संख्या 6,28,931 है । ये मुख्य रूप से राँची {465093}, हजारीबाग {27588}, सिंहभूम {118932}, पलामू {9235}, धनवाद {3429} तथा पूर्णिया {3644} जिलों में केन्द्रित हैं । इनकी भाषा आस्ट्रोएशियाटिक भाषा परिवार की भाषा है । मूल रूप से ये बिहार राज्य में लम्बे परिभ्रमण के बाद आकर बसे मालूम पड़ते हैं । श्री शरतचन्द्र राय के अनुसार मुंडा भारत में पश्चिमोत्तर दर्रे से आये हैं । इनके अनुसार आर्यों के आगमन के कारण ये उ0 प्र0 के आजमगढ़ जिले, बुन्देलखण्ड, मध्यभारत, राजपूताना तथा अवध होते हुये छोटा नागपुर में आये । मुंडा तथा संथाल लोग सोन नदी पारकर छोटा नागपुर के विभिन्न प्रदेशों की तरफ विसरित हो गये तथा उन प्रदेशों में बस गये ।

उराँव[2] जनजाति की जनसंख्या सन् 1961 ई0 की जनगणना के अनुसार बिहार राज्य में 735025 थी उराँव मुख्य रूप से छोटा नागपुर पठार के पश्चिमी क्षेत्रों में रहते हैं । तथापि इनका वितरण क्रमशः राँची, पलामू, सिंहभूम, धनवाद, भागलपुर, तथा शाहाबाद जिलों में हैं । उत्तर बिहार में केवल चम्पारन तथा

---

1• सिंह, राम प्रवेश और अनिल कुमार, 1976 पूर्वोक्त, पृ0 196-97 ।

2• वही, पृष्ठ - 202 ।

पूर्णिया जिलों में ही उरांव कुछ संख्या में पाये जाते है । ये लोग रांची जिले में, मुख्य रूप से गुमला सब डिवीजन तथा पलामू जिले के लातेहार सब डिवीजन में केन्द्रित पाये जाते हैं ।

इनका परम्परागत आवास छोटा नागपुर वानस्पतिक तथा जीव जन्तुओं के दृष्टिकोण से अति समृद्ध है । साल तथा महुआ वृक्षों की अधिकता है । बांस बड़ी संख्या में उत्पन्न होता है । पशुओं में चीतें, तेंदुए, शेर, भालू, सांभर, बारहसिंघा, खरगोश, विभिन्न प्रकार के सर्प एवं पक्षी भी इस क्षेत्र में पाये जाते है । जनजाति को पूर्वी द्रविड़ अथवा प्रोटो आस्ट्रेलायड श्रेणी में रखा जाता है । गहरा भूरा रंग, काले बाल एवं काली आंखे होती है । घर मिट्टी से निर्मित होते है तथा खपरैल की छत होती है ।

यह कृषि प्रधान जनजाति है । आखेट एकत्रण तथा मछली पकड़ना, पशुपालन तथा हस्तकला अब इनके प्रमुख व्यवसाय न होकर अवकाश कार्य या आवश्यकता पड़ने पर किये जाने वाले कार्य ही रह गये है । ये श्रमिक के रूप में कार्य करने लगे है । खाद्यएकत्रण तक ये सीमित है । मधु निकालने का भी कार्य करते है । परिवार की अर्थव्यवस्था में पशुधन महत्त्वपूर्ण कार्य करता है ये गाय भैंस, बकरी, सुअर, भेड़, जंगली मुर्गा पालते है । सुअर भी इनका प्रिय आहार है किन्तु वे इसे उत्सवों में ही खाते है । बत्तख भी पालते है । भेड़-बकरी का मांस भी खाते है । यह पितृवंशीय जनजाति है ।

बिहार की जनजातियों में अति प्राचीन एवं आदिम जनजाति पहाड़िया[1]

---

1. साहु, चतुर्भुज, पूर्वोक्त, पृ0 21-22 ।

का अपना एक खास स्थान है । यह मुख्यत: राजमहल के पहाड़में छोटे-छोटे समूह में रहने वाली एक अत्यन्त ही पिछड़ी एवं घुमक्कड़ जनजाति है, लेकिन अपनी सांस्कृतिक विशेषताओं के कारण यह विशेष उल्लेखनीय एवं महत्वपूर्ण है । इतिहास के अनेक दुष्चक्रों के बावजूद यह अपनी सांस्कृतिक विशेषता को बनाये हुये हैं । इन पर्वतपुत्रों की सभ्यता एवं संस्कृति हमें भारत की प्राचीनतम सभ्यता एवं संस्कृति से साक्षात्कार कराती है ।

यह जनजाति मुख्यत: दो भागों में बंटी हुयी है । §1§ सौरिया पहाड़िया §2§ माल पहाड़िया । सौरिया पहाड़िया के लोग जिन्हें मालेर भी कहते हैं, सबसे पिछड़े हुये हैं । इन लोगों का निवास स्थान साहेबगंज और गोड्डा जिले के राजमहल पहाड़ी क्षेत्र में है तथा माल पहाड़िया जनजाति के लोग ज्यादातर लिट्टीपाड़ा पाकुड़ और वांदना गोड्डा के बीच वाले एक संकीर्ण क्षेत्र में बसे हुये हैं । सौरिया पहाड़िया लोग गोमांस-भक्षी हैं, माल पहाड़िया लोग गोमांस भक्षी नहीं हैं और विशुद्ध प्रकृतिवादी हैं । सौरिया पहाड़िया मुर्दों को कब्र में दफन करते हैं जबकि माल पहाड़िया मुर्दों को जलाते हैं । इन लोगों की अपनी भाषा 'मालतो' है जो बिहार में पायी जाने वाली उरांव जनजाति की भाषा 'कुड़ुख' से मिलती जुलती है

पहाड़िया साधारणत: छोटी-छोटी झोपड़ियों में रहते हैं, जिनकी दीवारें एक तरह की घास-फूस की बनी होती हैं । प्रत्येक झोपड़ी में कम से कम दो दरवाजे होते हैं - एक उत्तर की ओर, दूसरा दक्षिण की ओर । झोपड़ी में एक ही कमरा होता है । इसी कमरे में वे सोते हैं, खाना बनाते हैं तथा पालतू जानवरों को रखते हैं । पहाड़ में रहने के कारण इनका सामान्य नाम 'पहाड़िया' पड़ गया है । पहाड़ में वे स्वतन्त्र रूप से विचरण करते हुये जीवन यापन कर रहे हैं । जंगल से इनका अटूट

सम्बन्ध हैं । इन लोगों की जीविका का मुख्य साधन कुरूवा या कुराव खेती है जिसे पूर्वोत्तर भारत में झूम खेती कहा जाता है । कुरूवा खेती मान्यता प्राप्त है । इसके लिये वे अपने इर्द-गिर्द के जंगलों को काटकर सूखने के लिये छोड़ देते हैं । फिर उसमें आग लगा देते हैं और राखयुक्त मिट्टी को एक तरह के नुकीले औजार से खोदकर घघरा §भरवट्टी§, मकई, बाजरा, अरहर, या अन्य फसलें बोते हैं । एक स्थान पर तीन वर्ष तक कुरूवा करने के बाद उस जगह को छोड़ दिया जाता है ताकि उस जगह की उर्वरता बढ़े, इस प्रकार इनका जीवन भी घुमन्तू हो जाता है । कुरूवा खेती के अलावा जंगलों से लकड़ियाँ काट कर या चुनकर बेचना भी इन लोगों की जीविका का दूसरा महत्वपूर्ण साधन है । इसके अलावा आम, केंद, कटहल महुआ, शरीफा आदि फल-फूल का भी संग्रह करते हैं । सेमल की रूई और केंद के पत्ते तोड़कर बेचना भी इन लोगों की जीविका का एक साधन है । कुछ समय पूर्व तक पहाड़िया क्षेत्र §दामिने कोह§ के कुल 52 पहाड़ों पर सवई घास की अच्छी पैदावार होती थी जो इनकी जीविका का प्रमुख साधन था ।

पहाड़िया[1] जनजाति अनेक देवताओं की पूजा जाहिरा थान में करते हैं परन्तु इनकी पूजा की न तो कोई स्वाभाविक विधि है और न कोई खास दिन ही है । 'बेरू गोसाई' §सूर्य देवता§, 'बिल्व गोसाई' §चन्द्रमा§, 'लेहू गोसाई §सृष्टि के रचने वाले§ आदि सबसे शक्तिशाली देव हैं जिनकी आराधना प्राय: सभी धार्मिक संस्कारों के समय की जाती है । पुजारी की कोई विशेष जाति नहीं होती । प्रत्येक गाँव में एक भंडारी रहता है जिसका काम है पूजा का

---

1. साहु, चतुर्भुज, वही, पृ0 23 ।

प्रबन्ध कराना । घुंघरा {बरबटी}, मकई और बाजरे की खेती होने पर इन्हें सबसे पहले अपने देवताओं को चढ़ाते हैं ।

थारू[1] जनजाति उत्तर प्रदेश के उत्तरी क्षेत्र के अलावा विहार के चंपारन जिले में भी रहते हैं । विरहोर विहार राज्य के हजारीबाग, रांची तथा गुमला के जंगलों और पहाड़ी क्षेत्रों में रहने वाली जाति है । यह छोटा नागपुर के जंगलों तथा पहाड़ी क्षेत्रों में एक स्थान से दूसरे स्थान में घूमते रहने वाली एक जनजाति है । अत: इसकी सही जनसंख्या का अनुमान करना कठिन है । 1961 ई0 की जनगणना के अनुसार छोटा नागपुर में विरहोरों की जनसंख्या 2438 थी ।

इसके अतिरिक्त विहार प्रान्त की कुछ घुमन्तू जनजातियों का उल्लेख किया जा सकता है । बहेलिया - विहार में इन्हें भूला {                } भी कहा जाता है । यद्यपि इस जनजाति का मुख्य केन्द्र उत्तर प्रदेश एवं बंगाल है । शिकार एवं पक्षियों को पकड़कर ही ये जीविका चलाते हैं । लोध, रजवार मेहनत और मजूरी करके जीविका का निर्वाह करते हैं । मुसहर, बेड़िया आदि भी इसी कोटि में आते हैं[2]।

इसी कड़ी में उत्तर प्रदेश के जनपद सोनभद्र[3] की जनजातियों का उल्लेख किया जा सकता है । यहाँ प्रारम्भ से ही कोल, खरवार, वैगा, बैसवार, पनिका, कोरवा, गोंड, अगरिया, धांगर, घासिया, बाही, बनमानुस आदि जातियाँ - जनजातियाँ निवास करती आ रही हैं । घसिया यहाँ की एक ऐसी जनजाति है जो

---

1• सिंह, राम प्रवेश अनिल कुमार, 1976, पूर्वोक्त, पृ0 206 ।

2• मुकर्जी, रवीन्द्रनाथ, 1961, सामाजिक मानव शास्त्र की रूपरेखा, पृ0 473-474

3• केसरी, अर्जुनदास, अक्टूबर-नवम्बर - 1995, उत्तर प्रदेश, सन्देश, पृ0 10

आरम्भ में घास काटने का काम करती थी । घास से रस्सियाँ बनाने के अलावा आभूषण भी जैसे - बेरवा, करधनी, बाजूबन्द, हैकल, सिरबन्दी, बेंदी, पैंता, अँगूठी, माला, इत्यादि बनाते थे । रस्सी बटने और घास {बगई} से गहने बनाने की कला में ये आज भी दक्ष हैं । यह वास्तव में कलाकार अथवा शिल्पी वर्ग की जनजाति है, जो मुख्य रूप से वाद्ययन्त्र बनाने की कला में निपुण हैं । मादल, ढोल, नगाड़ा, निशान, डफला, टइयाँ, खंजड़ी इनके प्रिय वाद्य है । ये प्राय: बकरी पालते हैं । उसके चमड़े को सिझाते हैं, फिर उससे वाद्ययन्त्र बनाते हैं । माढल वे काठ, कच्ची पक्की मिट्टी से बनाते हैं । मधुर ध्वनि के लिये वे उसके दोनों मुँह-कुडों पर एक प्रकार का मसाला बनाकर लगाते हैं । वे पत्थर की कंकड़ी नदी-नाले के किनारे की पुरानी मिट्टी के भीतर से निकालते हैं । उसे पीस-कूटकर खूब बारीक भी बना लेते हैं, फिर उसमें पका हुआ चावल कूट कर उसकी लुगदी बनाकर दोनों को एक में मिलाकर लगाते हैं । यदा - कदा कोयला पीसकर भी उसमें मिला लेते हैं । मादल को बकरी-बकरे के सिझाये हुये चमड़े से मढ़ते हैं । इस प्रकार मादल बनाना-बेचना उनका मुख्य कार्य हो गया है । जंगल पहाड़ में ये थोड़ी बहुत खेती बारी, पशुपालन का कार्य भी कर लेते हैं किन्तु शिकार उनका असली जीवन रहा है । नृत्यकला में भी वे प्रवीण हैं ।

अन्य जनजातियों की तरह घसिया[1] जनजाति की भी सात कुरियाँ है । इनमें से कुछ शिल्पी वर्ग के हैं जो भैंस या भैंसा के सींग से बाँस अथवा लकड़ी से कंघी बनाते हैं । खजूर, बाँस अथवा सींक से चटाई, परदा, डलिया, वन में उपजने वाले फूलों की मालाएँ, घुमची की मालाएँ, लकड़ी अथवा लकड़ी की सोर-जड़ों से श्रृंगार-

---

1. केसरी, अर्जुनदास, अक्टूबर-नवम्बर - 1995, उत्तर प्रदेश, सन्देश, पृ0 11-12

प्रसाधन बनाने की कला में इस जाति की महिलाएँ दक्ष है । इसी प्रकार से दोना-पत्ता आँवला, हर्रा, बहेड़ा, चिरौंजी, बीड़ी-पत्ता के कार्यों में रुचि लेते हैं ।

इनकी धर्म में भी आस्था है । ये अड़डी ज्वालामुखी, बघउट, बनसत्री, कालीमाई, शारदा, नीलकण्ठ (शिव), देवादि की पूजा में विश्वास करते हैं । उनके अधिकतर देवी-देवता-पहाड़ों नदियों, वृक्षों में निवास करते हैं । बलि, पितृपूजा, नागपूजा वृक्षपूजा में इनका अटूट विश्वास है । ये दाहसंस्कार करते हैं तथा छुआ-छूत में विश्वास नहीं करते हैं ।

कंजर[1] एक घुमक्कड़ जाति है, जो कई परिवारों के समूह में जगह-जगह घूमकर अपनी रोजी-रोटी कमाती हैं । बच्चों के साथ आगे बढ़ता हुआ इनका काफिला कहीं भी अच्छी जगह देखकर अपना पड़ाव डाले देता है । वहाँ कुछ दिन रहकर ये अपना काम धंधा करते हैं । वहाँ से जब उनका मन ऊब जाता है तो फिर नये पड़ाव की खोज में निकल पड़ते हैं । प्राय: पीढ़ी दर पीढ़ी वे केवल शिकार ही करते रहें हैं । उनका मुख्य पेशा शिकार ही है । ये शिकारी कुत्ते पालते हैं । उनकी मदद से ये गीदड़, लोमड़ी, सियार, तथा सुअर मारते हैं । इन जानवरों को खाने के साथ-साथ ये उनकी खालें बाजार में बेंच देते हैं । ये कई तरह के ऐसे सापों को भी, जो अधिक जहरीले नहीं होते, पकड़ कर खातें हैं । दिन निकलने से पहले ही ये अपने बरछी भाले लेकर शिकार की खोज में निकल पड़ते

---

1. रमेश प्राणेश, 15 अक्टूबर 1995, एक घुमक्कड़ जनजाति कंजर, दैनिक राष्ट्रीय सहारा, पृष्ठ 14-15 ।

हैं । जिसके लिये इन्हें घंटों गहरी खाइयों में छिपे रहना पड़ता है । अपने मुँह से ये गीदड़ या सियार की ऐसी आवाज निकालते है कि उससे जानवर धोखा खा जाते है । उन्हें लगता है कि कोई गीदड़ या सियार ही उन्हें बुला रहा है । उनके पास आते ही ये लोग एक साथ अपने बरछे भालों समेत उन पर टूट पड़ते है । देखते ही देखते कई जानवरों का ढेर लग जाता है । उनके शिकारी कुत्ते इस काम में इनकी बहुत सहायता करते हैं । अपने शिकार को देखते ही ये किसी भूखे शेर की तरह उस पर टूट पड़ते हैं । कंजर बंदर पकड़ने में भी बहुत माहिर होते हैं ।

विभिन्न क्षेत्रों में पायी जाने वाली इन जनजातियों की अर्थव्यवस्था में भी अंतर पाया जाता है । इनकी अर्थव्यवस्था विभिन्न स्तरों पर विकसित पायी जाती है । अधिकांश जनजातियाँ कृषि प्रधान है । कृषि अर्थव्यवस्था वाली जनजातियों में कृषि की कई विकसित अवस्थायें पायी जाती है । कहीं ये जनजातियाँ स्थायी प्रकार की खेती करती है तो कहीं जंगलों को जलाकर कुछ समय के लिये वहाँ कृषि करती है । कई जनजातियों में कृषि तथा आखेट सम्मिलित रूप से किया जाता है ।[1] कुछ जनजातियाँ केवल आखेट पर ही जीविका निर्वाह करती है तो कहीं खाद्य संग्रह करना पड़ता है । डी० एन० मजुमदार[2] ने जनजातियों की अर्थव्यवस्था का सरल विश्लेषण प्रस्तुत किया है । उसमें उत्तर प्रदेश और बिहार की स्थिति निम्नवत है :

---

1. सिंह राम प्रवेश, 1976 पूर्वोक्त ।

2. मजुमदार, डी० एन०, 1963, पूर्वोक्त पृ०-158 ।

| निवास क्षेत्र | आखेट, खाद्य संग्रह अवस्था | झूम कृषि, लकड़ी काम, निर्माण, विशेषकर कला | स्थायी कृषि, पशुपालन, बरतन निर्माण, बुनाई कटाई का ज्ञान तथा सीढ़ीदार कृषि करने वाले |
|---|---|---|---|
| उत्तर प्रदेश | राजी | कोरवा, सहरिया, भुईंया, खरवार, असुर। | थारू, माझी, भोक्सा, खस, कोल |
| बिहार | खरिया, बिरहोर | गारो, माल पहाड़िया | मुन्डा संथाल |

जनजातीय अर्थव्यवस्था में जो आखेट या खाद्य संग्रह करने वाली हैं वे अधिक पिछड़ी तथा प्राचीन जनजातियाँ हैं। स्थायी कृषि कार्य करने वाली जनजातियाँ विविध सांस्कृतिक स्तर पर विकसित प्रतीत होती हैं। झूम कृषि से सम्बन्ध रखने वाली जनजातियाँ इन दोनों के मध्य की कड़ी प्रतीत होती है। अर्थव्यवस्था का विकास खाद्य संग्रह से स्थायी कृषि की तरफ होता है। वर्तमान युग के सम्पर्क में आ जाने पर इनकी प्राचीन अर्थव्यवस्था टूटने लगी है, तथापि इनकी अर्थव्यवस्था अद्यावधि अपने वास्तविक स्वरूप में देखी जाती है।

इन प्रारम्भिक अध्ययनों का महत्वपूर्ण प्रभाव यह पड़ा कि भारत के पहाड़ी और जंगली क्षेत्रों में रहने वाली शिकारी एवं संग्राहक समुदाय प्रकाश में आये। इस क्षेत्र की

भौगोलिक स्थिति के कारण यहाँ के जनजातीय समुदाय सिंचित कृषि, यातायात, संचार व्यवस्था से दूर होते गये, और वे समृद्धि कृषि को आकर्षित नहीं कर पाये और जब तराई क्षेत्रों में जनसंख्या में वृद्धि हुयी तो वे पहाड़ी एवं जंगली क्षेत्र के आखेटक एवं खाद्य संग्राहक मैदानी ॥ तराई ॥ क्षेत्र के लोगों के अपेक्षाकृत अपने उसी रहन-सहन को बहुत दिनों तक चलाते गये ।

यद्यपि अच्छी तरह से ज्ञात नहीं है तथापि उत्तर भारत के तराई मैदानी इलाकों के लोग लगभग 4000 वर्ष पहले समुदाय में रहना एवं कृषि करना प्रारम्भ कर दिये थे । यह भूभाग आज देश का सबसे ज्यादा जनघनत्व वाला क्षेत्र है । कतिपय शिकारी एवं संग्राहक समुदाय के लोग भी 20 वीं शदी के अन्त तक व्यवस्थित रूप से जीवन यापन करने लगे । इनमें से उत्तर प्रदेश के मैदानी भागों के कुछ वर्ग जैसे कि अहिरिया, बधिक, बहेलिया, वान्दी-बंगाली, भान्टू, बावरिया, गंगथेला, हबूरा, कंजर, मुसहर और सनसिया उल्लेखनीय हैं । उनके रहन-सहन एवं अल्पज्ञान के कारण पुरातत्वविदों को उनकी संस्कृति और प्राचीन शिकारी एवं संग्रहक जीवन के विकासक्रम तथा सामाजिक एवं प्राकृतिक वातावरण को समझने में कठिनाई आयी ।

दुर्भाग्यवश इन समुदायों के सम्बन्ध में पुरातात्विक एवं नृतत्वशास्त्रीय अनुसंधान कार्य अत्यल्प है । इस अवधि में उनके जीवन पद्धति में द्रुतगति से परिवर्तन दिखाई देता है । प्राकृतिक आवासों के नष्ट होने के कारण वे अपने प्रारम्भिक जीवनशैली को नहीं अपना पा रहे हैं । विकसित ग्रामीण और शहरी लोगों के साथ रहते हुए उनको अपने पारम्परिक जीवनशैली में परिवर्तन कर के नये परिवेश का समन्वय करना पड़ रहा है । इस प्रकार का [illegible] अन्य विकसित समुदायों के साथ नये व्यवसायों और नये सामाजिक सम्बन्धों के सम्मिश्रण के कारण हो रहा है ।

अध्याय - तीन

## संजाति पुरातत्व : परवर्ती नृतत्व शास्त्रियों और पुरातत्वशास्त्रियों तथा वर्तमान शोधों के आधार पर

प्राचीन एवं मध्य युगीन साहित्य में शिकारोपजीवी समूह की सूचनाएं तो मिलती हैं परन्तु इन पर अधिक शोध कार्य नहीं हुआ है । ऋग्वेद में श्वपच, चांडाल, बुम्कल, कोल्हरि, बेरूड़ आदि कई जनजातियों के नाम आये हैं । बाण - भट्ट की रचनाओं में वन्य जीवन का परिचय मिलता है[1] । शेक्सपियर के 1818 में प्रकाशित एक लेख 'बधिक और ठग' से 19 वीं शदी के आधुनिक काल में इनके बारे में जानकारी मिलती है[2] । 1860 ई0 के बाद इन समुदायों के बारे में अधिकाधिक जानकारी मिलने लगती है । इनके बारे में मुख्यतया ब्रिटिश प्रशासकों ने स्वयं की जानकारी के आधार पर या फिर ब्रिटिश एवं भारतीय दफ्तरों के माध्यम से संबन्धित जनजातियों के परिवारों की जानकारी प्राप्त करके उनके सम्बन्ध में महत्वपूर्ण तथ्यों को उद्घाटित किया है । इस सूचना संकलन के पीछे मूलभूत उद्देश्य भारत में विभिन्न जातीय समूहों के रीति - रिवाज एवं रहन - सहन के बारे में ज्ञान प्राप्त करके उनके अनुसार उचित प्रशासनिक व्यवस्था कायम करना था । ये सूचनायें दशक जनगणना रिपोर्ट, जिला गजटों, पत्र-पत्रिकाओं, में प्रकाशित लेख एक भौगोलिक रिकार्डों के रूप में उल्लिखित हैं । इस विषय पर प्रमुख प्रारम्भिक विद्वानों में क्लीन[3], लीज़्स[4], विलियम[5] , इलियट[6],

---

1. शुक्ला रामबरन, 1991, सोसाइटी एण्ड कल्चर एज रेफलेक्टेड इन दी वर्क्स आफ वाणभट्ट, इलाहाबाद विश्वविद्यालय में प्रस्तुत डी0फिल0शोध ग्रन्थ ।
2. शेक्सपियर, जे0 1818, अ[illegible]न्स रेगार्डिंग बधिकस् एण्ड ठग्स फ्राम एन आफि - सियल रिपोर्ट डेटेड दी 30 अप्रेल 1816, एशियाटिक रिसर्चेज 13 : 282-292 ।
3. क्लीन, ई0ए0, 1867, अहिरीज मेमोरन्डम् आन दी प्रवेलिंग कास्ट्स, सेन्सस आफ दी नार्थ वेस्टर्न प्राविन्सेज, 1865, वाल्यूम 1, जनरल रिपोर्ट एन्ड अपेन्डिक्सेज, इला0
4. लीज़्स, आर0जे0, 1867, सेन्सस आफ दी नार्थ वेस्टर्न प्राविन्सेज, 1865, वाल्यू0 1, जनरल रिपोर्ट एन्ड अपेन्डिक्सेज, इलाहाबाद ।
5. विलियम, जे0सी0, 1869, रिपोर्ट आन दी सेन्सस आफ अवध, 1869, वाल्यू0 2, [illegible] एन्ड [illegible] टेबुल्स, लखनऊ ।
6. इलियट, एच0एम0, 1869, दी रेसेज आफ दी नार्थ-वेस्टर्न [illegible]विन्सज आफ [illegible] लखनऊ ।

शैहरिंग[1], नेशफील्ड[2], प्लाउडेन[3], मीड[4], भट्टाचार्य[5], रिसले[6], क्रिक्पेटरिक[7], रोज[8], इबेट्सन[9], ब्लंट[10], टर्नर[11], बनिंगटन[12] का उल्लेख किया जा सकता है। उपर्युक्त पूर्ण सूचनाओं को क्रमिक रूप देते हुये विलियम क्रूक ने 1896 में 'दी

---

1• शैरिंग, एम0 ए0, 1872, <u>हिन्दू ट्राइब्स एन्ड कास्ट्स एज रिप्रेजेन्टेड इन बनारस</u>, वाल्यूम, 2, कलकत्ता।

2• नेशफील्ड, जान शी, 1883, दी कॅर्ज़स आफ अपर इन्डिया, <u>कलकत्ता रिव्यू</u>, पृ0 368-398।

3• प्लोडेन, डब्ल्यू, सी, 1883, <u>रिपोर्ट आन दी सेन्सस आफ ब्रिटिश इन्डिया</u>, 1881, वाल्यूम, 1, लन्दन।

4• मीड, एम0 जे0, 1905, आन दी मोधियास आर बाओरिस आफ राजपूताना एन्ड सेन्ट्रल इन्डिया, <u>जर्नल आफ दी एन्थ्रोपोलाजिकल सोसाइटी आफ बाम्बे</u>, वाल्यूम 7, पृ0169 - 190।

5• भट्टाचार्य, जोगेन्द्र नाथ, 1896, <u>हिन्दू कास्ट्स एण्ड सेक्ट्स</u>, वाल्यू0 1-11, कलकत्ता

6• रिसले, एस0एच0, 1901, <u>दी पीपुल आफ इन्डिया</u>, लन्दन।

7• §क§ क्रिक्पेटरिक, डब्ल्यू, 1911, ए वाकाबुलरी आफ दी पासी बोली आर अरगोट आफ दी कुचबन्ड्या कॅर्ज़स, <u>जर्नल आफ दी एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल</u>, § न्यू सिरीज § §6§, वाल्यू0 47, पृ0 77 - 87।

§ख§ क्रिक्पेटरिक, डब्ल्यू0, 1911, फोक सॉंग्स एण्ड फोकलोर आफ दी गेहरा §कन्ज़र्स§, <u>जर्नल आफ दी एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल</u>, §न्यूसिरीज §§7§, वाल्यूम 2, पृ0 437 - 442

8• रोज, एच0ए0, 1911, <u>ए ग्लोसरी आफ दी ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स आफ दी पंजाब</u> एन्ड एन0डब्ल्यू0 एफ0 पी0, वाल्यूम 2-3, लखनऊ।

9• इबेट्सन, डी0सी0, 1916, पंजाब कास्ट्स लाहोर, पार्ट 1, रिपोर्ट, लखनऊ।

10• ब्लंट, ई0ए0एच0, 1931, <u>दी कास्ट्स सिस्टम आफ नार्दर्न इन्डिया</u>, लन्दन।

11• टर्नर, ए0सी0, 1933, <u>सेन्सस आफ इन्डिया</u>, 1931, वाल्यूम 18 : <u>यूनाइटेड प्राविन्सेज आफ आगरा एण्ड अवध</u>, पार्ट 1 : रिपोर्ट, इलाहाबाद।

12• बौनिंगटन, सी0जे0, 1935, <u>सेन्सस आफ इन्डिया</u>, 1931, वाल्यू0 1, इन्डिया, पार्ट 3 : एथनोग्रैफिक, पृ0 36-44, शिमला।

ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स आफ दी नार्थ वेस्टर्न प्राविन्सेज एण्ड अवध {कलकत्ता} नामक ग्रन्थ को 4 भागों में प्रकाशित किया । इस ग्रन्थ से मानव नृविज्ञान सम्बन्धी यथार्थ सूचना, संक्षिप्त जातिगत समीकरण, जनसंख्या गणना और ऊपरी एवं मध्य गंगाघाटी में सभी समुदायों के वितरण सम्बन्धी सूचनायें प्राप्त होती हैं जो इन लुप्त प्राय समुदायों की जानकारी का मुख्य स्रोत है । नेशफील्ड[1] द्वारा 1883 में कंजर पर प्रकाशित लेख आज भी उस समुदाय के बारे में विस्तृत जानकारी उपलब्ध कराता है तथापि आधुनिक शोध मापदण्ड जनजातियों के सांस्कृतिक एवं प्राकृतिक रूप से सामाजिक वातावरण में आये परिवर्तन तथा नये आर्थिक कारकों एवं परम्परागत तरीकों का, कृषकों तथा शहरी समाज की गतिविधियों को अपनाने के बारे में पूर्णतया जानकारी उपलब्ध नहीं करा पाता है ।

## जनजातीय समूह :-

यद्यपि पहले के लेखकों ने ऊपरी एवं मध्य गंगाघाटी के अनेक जनजाति समूहों को उल्लिखित किया था, परन्तु क्रुक पहला ऐसा व्यक्ति था जिसने उनकी एक विस्तृत सूची प्रस्तुत किया । उसने उनके व्यवसाय के आधार पर 215 समुदायों और 61 समूहों में वर्गीकृत किया । दो महत्वपूर्ण समूह जो आज के संदर्भ में हमारे लिये प्रासंगिक है, वे हैं {1} शिकारी, बहेलिया, आदि {2} मिश्रित एवं लज्जाजनक स्थिति में रहने वाले समुदाय के बहुत से लोग समूह में 'जंगली और पहाड़ी जनजातियां' के रूप में उल्लिखित हैं एवं कुछ हद तक वे शिकार भी करते हैं परन्तु वे मुख्यतया मिर्जापुर जिले के दक्षिणांचल एवं हिमालय के उत्तरी भागों

---

1. नेशफील्ड, 1883, पूर्वोक्त ।

तक सीमित हैं, तथा वे इस वर्तमान संदर्भ के बाहर आते हैं। विभिन्न समूहों के अनेक समुदाय शिकार या मछली मारने का कार्य करते हैं।

कुक द्वारा उल्लिखित सूची के समुदायों में ये सब आते हैं - शिकारी एवं बहेलिया हैं - अहेरिया, बहेलिया, बन्दी, बंगाली, गंधीला, गिडिया और कंजर और वे भी आते हैं जो 'मिश्रित एवं लज्जाजनक स्थिति में रहने वाले' कुछ हद तक शिकार करते हैं, वे हैं - बधिक, बवारिया, भांटू, हबूरा, संसिआ और सियारमार। यद्यपि दोनों समूहों के समुदाय शिकारोपजीवी हैं परन्तु इनमें से दूसरा (मिश्रित एवं लज्जाजनक स्थिति में रहने वाले) समूह अपने शरारती एवं अपराधी प्रवृत्ति एवं उनकी पत्नियों द्वारा वेश्यावृत्ति अपनाने के रूप में देखे जाते थे।

चूंकि इन समुदायों के जीवन - शैली में असामान्य रूप से एक रूपता पायी जाती है, इसलिए बहुत से लेखक, विश्वास करते हैं कि उन सभी को जातीय समूह में वर्गीकृत नहीं किया जा सकता। उदाहरण स्वरूप कुछ वधिकों को बावरिया और बहेलियों के मूल वंशज के रूप में और तदउपरान्त कंजर, संसिआ और इस तरह की घुमक्कड़ जातियों को इस वर्ग से उत्पन्न मानते हैं। परन्तु दूसरी तरफ सन्यासी कवि वाल्मीकि जी अहेरिया को बहेलिया से जोड़ते हुए उनके पूर्वजों की एकरूपता को दर्शाते हैं। कुक के अनुसार यद्यपि बंगाली नटो, कंजरों और इसी तरह की घुमक्कड़ जातियों से अपने किसी प्रत्यक्ष सम्बन्ध का दावा नहीं करते, परन्तु ये (बंगाली) उनसे गहरा सम्बन्ध रखते हैं। अलीगढ़ के अहेरिया यह मानते हैं कि उनकी जनजाति में औरतों की कमी के कारण वे दूसरी जाति की लड़कियों को अपने संपर्क में लाते थे। हाल के वर्षों में इनकी जाति में औरतों की संख्या बढ़ जाने के कारण अब वे इस पर रोक लगा दिये हैं। अलीगढ़ में वे विभिन्न

नामों से जाने जाते हैं - यथा - अहेरिया, करौल या करोल। क्रुक के मतानुसार बेड़िया लोग साँसिया, कंजरों, हम्बूरों, भाटुओं इत्यादि के करीबी हैं[1]। ये एक मिश्रित जाति है और इनमें अन्य दूसरी जातियों के लोग सम्मिलित हैं। हंबूरा, साँसियों एवं भाटुओं के अत्यधिक नजदीक है और वे हाल ही में केवल एक अलग समूह में वर्गीकृत हुए हैं। क्रुक के अनुसार साँसिया अन्य घुमक्कड़ जातियों के नजदीकी हैं एवं वे कंजरों, बेड़ियों व भाटुओं के रहने वाले क्षेत्र में रहते हैं। पुनः क्रुक कहते हैं कि भाटू, साँसिया जनजाति की मात्र एक शाखा है और कहीं-कहीं वे बेड़िया, हंबूरा या कंजर नाम से पुकारे जाते हैं। कुछ इसे भाट का वर्णशंकर मानते हैं जैसे कि साँसिया जनजाति कुछ राजपूत एवं जाटों के वर्णशंकर के रूप में हैं। ऐसा कहा जाता है कि आगरा, बरेली, बदायूँ, मुरादाबाद, गाजीपुर, खीरी और सुल्तानपुर के भाटू अपने सगोत्रीय जनजाति बेड़िया, हंबूरा और साँसियों के रीति-रिवाजों को अपनाये हुए हैं।

इन समुदायों का नामकरण जो प्रायः संस्कृत या हिन्दी भाषा से लिया गया है, और प्रायः हिन्दुओं द्वारा किया गया है, उनके (समुदायों के) आर्थिक एवं जीवनशैली को दर्शाते हैं। इस प्रकार 'अहेरिया' अर्थ - शिकारी - अहेरिया से। बधिक - अर्थ - पकड़ने या घायल करके पकड़ना - वधिक से। काननचार - अर्थ - जंगल में घूमने वाला - कंजर से। गंध - अर्थ - दुर्गन्धयुक्त या बदबूदार - गंधीला से। ये सब संस्कृत के मूल शब्द से लिये गये हैं। ऐसा विश्वास किया जाता

---

1. क्रुक, डब्ल्यू0, 1896, <u>दी ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स आफ दी नार्थ वेस्टर्न प्राविन्सेज एण्ड अवध</u>, वाल्यूम 1 : 242 - 249।

है कि 'बावरिया' या बोरी - बाबट शब्द से अर्थ - जाल - जिसे वे पशुओं को पकड़ने में प्रयोग करते हैं या 'बनवार' शब्द से जो इस दुर्गन्ध युक्त पदार्थ का प्रयोग करके पशुओं ﴾ शिकार ﴿ को पकड़ते हैं । पश्चिमी उत्तर प्रदेश के बावरिया यह दावा करते हैं कि गुर्जर उन्हें गिड्यिा और जाट 'बौरीस' नाम से पुकारते हैं । क्रूक[1] के अनुसार बावरिया को ही क्षेत्रीय भाषा में 'गिड्यिा' नाम दिया गया है ।

जनसंख्या और वितरण :-
==================

विशेष रूप से संख्या एवं भौगोलिक वितरण में ये समुदाय भिन्न हैं । 1891 और 1971 की जनगणना से प्राप्त आंकड़ों के आधार पर हम इनमें आये परिवर्तनों को देख सकते हैं ।

1891 की जनगणना के आधार पर बहेलियों की जनसंख्या सर्वाधिक 33754 थी जो मैदानी भागों के 43 जिलों में ﴾ केन्द्र एवं पूर्व के जिलों में इनकी घनी बस्ती थी ﴿ फैले हुये थे । द्वितीय स्थान पर अहेरिया ﴾ 19768 ﴿ थे, जो मुख्य रूप से पश्चिमी एवं केन्द्रीय भागों के साथ-साथ देश के 16 जिलों में पाये जाते थे । तृतीय स्थान पर कंजर ﴾ 17865 ﴿ थे । ये संख्या में कम होने के बावजूद देश के सम्पूर्ण भागों, 47 मैदानी जिलों में पाये जाते थे तथापि जनसंख्या के सापेक्ष में ये पश्चिमी एवं केन्द्रीय भाग में ज्यादा बसे थे । कंजरों के बारे में नेशफील्ड[2] महोदय कहते हैं कि उत्तर भारत में शायद ही कोई जिला रहा हो

---

1. क्रूक, डब्ल्यू0, 1896, पूर्वोक्त, वाल्यूम I : 228

2. नेशफील्ड, जान शी , 1883, पूर्वोक्त, 77 टी : 369

जहाँ पर कंजर न देखे जाते हों, चाहे वह घना जंगल हो, जहाँ पर वे खेल एवं भेद की बातें कर सकें या फिर गाँव का बाहरी हिस्सा जहाँ उन्हें रहने एवं अपने सामानों को बेचने की सुविधा मिलती हो, सर्वत्र व्याप्त थे।

जनजातियों के बारे में कुछ संक्षिप्त सूचनायें जनगणना सूचनाओं में भी उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त वेवर्ली[1], दत्ता[2], इगर्टन[3], गेट[4], इवेस्टन[5], कौल[6], खान[7], कीट्स[8], मैकलागन[9], टर्नर[10], विलियम[11],

---

1• वेवर्ली, एच0 1872, रिपोर्ट आन दी सेन्सस आफ बंगाल, कलकत्ता।

2• दत्ता, जे0 एन0 1922, सेन्सस आफ इन्डिया, 1921, वाल्यूम XX ग्वालियर

3• इगर्टन, जी0 1891, सेन्सस आफ इन्डिया, रिपोर्ट आन दी सेन्सस आफ अजमेर मेरवार, कलकत्ता।

4• गेट, ई0 ए0, 1892, सेन्सस आफ इन्डिया 1891, वाल्यूम I, आसाम रिपोर्ट, शिलांग।

5• इवेस्टन, डी0 सी0 1883, रिपोर्ट आन दी सेन्ससआफ पंजाब 1881, कलकत्ता।

6• कौल, एच0 के0 1912, सेन्सस आफ इन्डिया, 1911, वाल्यूम XIV, लाहौर

7• खान, एम0 एम0 1912, सेन्सस आफ इन्डिया, 1911, वाल्यूम XX, काश्मीर पार्ट I, लखनऊ।

8• कीट्स, ई0 जे0 1882, रिपोर्ट आन दी सेन्ससआफ बरार, 1881, बाम्बे।

9• मैकलागन, ई0 डी0 1892, सेन्सस आफ इन्डिया, 1891, वाल्यूम XIX, पंजाब एन्ड इट्स फ्यूडेटरीज, पार्ट I रिपोर्ट, कलकत्ता।

10• टर्नर, ए0 सी0 1933, सेन्सस आफ इन्डिया, 1931, वाल्यूम XVIII, यूनाइटेड प्राविन्सेज आफ आगरा एन्ड अवध पार्ट I, रिपोर्ट, इलाहाबाद

11• विलियम, जे0 सी0 1869, दी रिपोर्ट आन दी सेन्सस आफ अवध, 1869, वाल्यूम II, अपेन्डिसेज एन्ड स्टैटिक्स टेबुल्स, लखनऊ।

और ए० आयन्गार[1], वी० एस० भार्गव[2], ई० ए० एच० ब्लन्ट[3], डब्ल्यू क्रुक[4], और अन्य जैसे जे० एच० हट्टन[5], टी० एस० कटियार[6], डब्ल्यू क्रिक पैटरिक[7], ई० डी० मैकलागन[8], डी० एन० मजुमदार[9], एच एच० रिजले[10], एच० ए० रोज[11]

---

1• आयंगर, ए० 1951, क्रिमिनल ट्राइब्स एक्ट इन्क्वायरी कमेटी रिपोर्ट 1949, नई दिल्ली ।

2• भार्गव, बी० एस० 1950, ट्राइब्स आफ इन्डिया, न्यू दिल्ली, भारतीय आदिम जाति सेवक संघ ।

3• ई० ए० एच० ब्लन्ट, 1931, दी कास्ट सिस्टम आफ नादर्न इन्डिया, लन्दन ।

4• क्रूक, डब्ल्यू, 1896, पूर्वोक्त, वाल्यूम, III कलकता, गवर्नमेन्ट आफ इन्डिया ।

5• हट्टन, जे० एच० 1956, कास्ट इन इन्डिया, लन्दन, आक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस ।

6• कटियार, टी एस० 1964, सोसल लाइफ इन राजस्थान, इलाहाबाद ।

7• क्रिक पैटरिक, डब्ल्यू० 1911, ए वाकाबुलरी आफ दी पासी बोली आर आरगाट आफ दी कुववाड़िया कन्जर्स, जरनल आफ दी एसीयाटिक सोसाइटी आफ बंगाल VII (6) ।

8• मैकलागन, ई० डी० 1892, सेन्सस आफ इन्डिया, 1891, वाल्यूम XIX पंजाब पंजाब एन्ड इट्स फ्यूडेटरीज, रिपोर्ट, कलकत्ता ।

9• मजुमदार, डी० एन०, 1944, दी फारचून्स आफ प्रिमिटिव ट्राइब्स, लखनऊ

10• रिजले, एच० एच० 1891, दी ट्राइब्स एन्ड कास्ट्स आफ दी बंगाल, वाल्यूम I, कलकत्ता ।

11• रोज, एच० ए०, 1911, ए ग्लोसरी आफ दी कास्ट्स एण्ड ट्राइब्स आफ दी पंजाब एन्ड एन० डब्ल्यू० एफ० पी०, वाल्यूम II, नई दिल्ली ।

आर० वी० रसेल और हीरा लाल[1] और एम० ए० शेहरिंग[2]के ग्रन्थों में है । पेट्रिक ने अपने लेखों में उनकी भाषा, सामाजिक संगठन, रीति-रिवाज, लोक क्रिया कलाओं आदि के बारे में जानकारी दी है । कुक, इन्थोवेन, रसेल और हीरालाल ने अपने नृजातीय सर्वेक्षणों में इन समुदाय के बारे में उपलब्ध जानकारी को संक्षिप्त किया है । शेष लेख पूर्व सूचना के आधार पर संक्षिप्त जानकारी ही प्रस्तुत करते हैं । स्वतन्त्रता के बाद मात्र दो संक्षिप्त लेख एम० के० गौतम[3] (1983) और वी० सी० जैन[4] (1980) इन समुदायों की जानकारी के बारे में उपलब्ध है । इनके बारे में मालती नागर और वी० एन० मिश्र ने ब्रिटिश काल में हुये कार्यों तथा एकत्रित किये गये क्षेत्रीय सूचनाओं जो कि कंजरों के कुइयान गाँव (फर्रुखाबाद जिला) और फर्रुखाबाद कस्बा से 1988 जाड़े में एकत्रित किया गया, का एक विस्तृत विवरण अपने लेख में किया है।[5]

---

1• रसेल आर० बी० एन्ड हीरालाल, 1916, दी ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स आफ दी सेन्ट्रल प्रॉविन्सेज आफ इन्डिया, वाल्यूम I से III

2• शेहरिंग, एम० ए०, 1872, हिन्दू ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स एज रिप्रजेन्टेड इन बनारस, वाल्यूम I कलकत्ता ।

3• गौतम, एन० के०, 1983, इटीनरेन्ट कैम्पिंग लाइफ टू सेटेल्ड बस्ती एलाइन्सेज, दी मेकनिज्म आफ एथनिक [illegible] एन्ड सोशल आर्गेनाइजेशन आफ दी कन्जर्स आफ नार्थ इन्डिया, ईस्टर्न एन्थ्रोपोलाजिस्ट ।

4• जैन० बी० सी०, 1980, ट्राइबल पंचायत आफ दी कन्जर्स आफ मुरादाबाद सिटी, इन्डियन जरनल आफ सोशल रिसर्च, XXI (3)

5• नागर, मालती एन्ड वी० एन० मिश्र, 1990, पूर्वोक्त, पृ० 71 - 78

इस समुदाय में एक शताब्दी पहले और अब की स्थितियों में मुख्य अन्तर यह है कि जंगल एवं बड़े जानवर लगभग समाप्त हो गये हैं। इस स्थिति ने कंजड़ों को अपनी घुमन्तू जीवन शैली छोड़ने के लिये विवश किया। वे किसानों के बस्तियों एवं कस्बों में स्थायी रूप से समुदायों में बसना शुरू कर दिये। छोटे जानवरों का अब जो वे शिकार करते हैं वह छोटी मोटी झाड़ियों एवं खेतों में करते हैं, इससे उनकी शिकारी प्रवृत्ति का पता चलता है।

कंजड़ उत्तर भारत की सबसे बड़ी और सबसे अधिक फैली हुयी जनजाति समुदाय है। वे उत्तर प्रदेश के सभी मैदानी जिलों एवं मिर्जापुर के पहाड़ी क्षेत्रों में पाये जाते हैं। उत्तर प्रदेश के केवल 4 पहाड़ी जिलों (1) उत्तर काशी (2) पिथौरागढ़ (3) चमोली (4) अल्मोड़ा में नहीं पायी जाती है। उत्तर प्रदेश के बाहर - पंजाब, हरियाणा, जम्मू-कश्मीर, गुजरात, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, विहार, प० बंगाल, एवं असम में पायी जाती है। इस समुदाय की आबादी उत्तर प्रदेश में 1891 में 17865 थी जो 1971 में बढ़कर 44176 (147% की वृद्धि) हो गयी। इस समुदाय के पूरे वितरण में 1891 से 1971 में कोई परिवर्तन नहीं है, जबकि इसकी आबादी कुछ जिलों में बढ़ी है कुछ में घटी है। ऐसा क्षेत्रीय स्थानान्तरण के कारण है।

## अधिवास का स्वरूप :-

आजकल लगभग सभी कंजड़ अलग बस्तियों में गाँव और कस्बों के समीप बसे हैं। अपनी आर्थिक स्थिति के आधार पर वे घास-फूस की झोपड़ियों और घास-फूस से छायी हुयी मिट्टी के घरों या ईंट के घरों में रहते हैं। नेशफील्ड के अनुसार 'जो सही कंजड़ है वे घुमक्कड़ जीवन जीने के आदी हैं। अगर वे कहीं

किसी गाँव या कस्बे के पास रुकते भी हैं तो वे अपनी अस्थायी रूप से ~~बाँस~~ घास चटाई या घास-फूस से अपना छप्पर बना लेते हैं । गाँवों की बस्तियों से ये अपना तम्बू आदि हटकर बनाते हैं । उनका प्राकृतिक घर जंगल ही है ।

इस समुदाय का अलग स्वरूप उनके विवाह या अन्त्येष्टि क्रिया-कलापों से भी झलकता है । लड़की का पिता अपने दामाद को एक जंगल का थोड़ा सा हिस्सा जो कि वह अपना समझता है दामाद को देता है, जो बाद में दुल्हन की सम्पत्ति हो जाती है । दामाद के रहने तक या लौटकर आने तक यह सम्पत्ति दामाद की बनी रहती है । दूल्हे की अनुमति के बिना उस जंगल के हिस्से में न तो कोई शिकार कर सकता है, न ही मधु, जड़ी-बूटी इकठ्ठा कर सकता है । अन्त्येष्टि संस्कार के अन्तर्गत मृतक को जंगल में खुला छोड़ देते हैं । इनके घमन्तू समूह का आकार निश्चित नहीं मिलता किन्तु अक्सर छोटा रहता है । नेशफील्ड के अनुसार कंजड़ 20 या 40 लोगों के अधिक से समूहों में नहीं पाये जाते हैं । कभी-कभी इससे भी कम संख्या में पाये जाते हैं । यह बसने का छोटा समूह जंगलों में भी उपस्थित रहता है , जबकि वहाँ पर पर्याप्त स्थान भी है और विकसित जातियों से कोई बाधा भी नहीं है । वे बड़े मुश्किल से 50 या इससे अधिक के समूह में पाये जाते हैं ।

## भौतिक रहन-सहन, वेशभूषा और आभूषण :-

कंजड़ लोग अपने भौतिक रहन-सहन में प्रायद्वीपीय भारत के प्रोटोआस्ट्रो - लायड जनजातीय समुदायों से थोड़ भिन्न है । वे लम्बे-पतले अच्छे शरीर वाले और ऊँचा माथा तथा पतली नाक वाले होते हैं । उनकी प्रवृत्ति के कारण ज्यादा घूमने एवं दौड़ने से उनका अच्छा स्वास्थ्य रहता है । अधिकांश कंजड़ अपने शरीर

को स्वस्थ बनाये रखते हैं और उस पर गर्व करते हैं । वे विशेष रूप से लड़ाकू होते हैं । उनकी वेशभूषा और आभूषण अन्य समुदायों से ज्यादा भिन्न नहीं होती है । पुरूष लोग सामान्यतः धोती की जगह लुंगी पहना करते हैं । वे कमीज और पगड़ी भी पहनते हैं । औरतें अन्य समुदाय की तरह साड़ी और चोली पहनती हैं । पुरूष और औरतें दोनों आभूषण के शौकीन होते हैं । पुरूष लोग स्टील की चूड़ी और सोने की बाली पहनते हैं और औरतें चांदी का हार, सोने की बाली, चूड़ियां और पाजेब पहनती हैं ।

सामाजिक संगठन :-

विलियम क्रुक के अनुसार - " कंजड़ नाम संस्कृति के 'काननचर' शब्द से लिया गया है जिसका मतलब होता है जंगल में विचरण करने वाले । उत्तर प्रदेश के विभिन्न भागों से प्राप्त जानकारी के आधार पर क्रुक ने इनको 48 समूह (वर्गों) में बाँटा है - (1) वधिक, (2) बहेलिया, (3) वैद्य, (4) बोरिया, (5) बरूआ, (6) बेल्दार (7) वैरिया, (8) भैसे, (9) भारू, (10) भादू, (11) बोहार (12) चमरमंगता, (13) चन्डाल, (14) धोबी वेन्स, (15) डोम, (16) इक्थानलिया, (17) घमरा, (18) घासर, (19) गोहार, (20) हंबूरा, (21) जल्लाद, (22) झेनसोटिया, (23) जोगी, (24) कबूतरवाला अथवा वृजवासी, (25) कन्नौजिया, (26) कान्गीवाला, (27) केरा, (28) केदार, (29) खेटोनिया, (30) कुद्दाबन्द (कुन्चाबन्द), (31) लकड़हार, (32) लोहिया, (33) मारिया, (34) माद्, (35) नट, (36) पाटारी, (37) पथरकट, (38) कलन्दर, (39) रच्छबन्द, (40) सनकट, (41) सनसिया, (42) सिन्गीवाला, (43) सिरकीबन्द, (44) सोदा, (45) सोन अथवा सोनरा, (46) सोनोरखन, (47) तुरकटा, (48) अनटावर

इनमें से कुछ जैसे कि बधिक, बेहेलिया, भांटू, बेड़िया, डोम हबूरा, जोगी, नट और सनसिया समूह विशिष्ट जनजातियों में आते हैं । यह अच्छी तरह से प्रतीत होता है कि ये विशिष्ट समूह गलत जानकारी के आधार पर या उनकी कंजड़ों मे सामान्य समानता जैसे कि व्यवसाय, अपराध, सामाजिक परिवेश और घुमन्तू जीवन आदि के आधार पर उन्हें कंजड़ समूह में शामिल किया गया है आज ज्यादातर कंजड़ इन समुदायों से अपना संबंध तोड़ लिये है ।

कुछ और समूहों के नाम उनके व्यवसाय के आधार पर रखे गये है । जैसे कि 'बेल्डर' का काम गड्ढा खोदना और मिट्टी की दीवाल बनाना । 'भैंस' का कार्य भैंस पालना होता है 'न्यारकेंवर' कान का खूट निकालते है, और दाँत निकालने का कार्य करते हैं । 'गोहार' वे लोग हैं जो कि 'गोह' पकड़ते है । 'जल्लाद' निष्कासित लोग होते हैं । कूँचबाणिया कूँच बनाते हैं । वे सिरकी या छत की चटाई भी बनाते हैं । खसखस घास खोदते हैं । भेड़िये तथा अन्य जानवरों का शिकार भी करते हैं । 'मारिया' इसलिये कहे जाते हैं क्योंकि वे देवी मारी की पूजा करते हैं । 'कंघीवाला' कंघी बनाते और बेचते है । 'लकड़हार' 'लोहिया' और 'मट्टू' क्रमशः लकड़ी, लोहे, और जमीन का कार्य करते हैं 'पथरकट' और 'सनकट' पत्थर काटने वाले होते हैं 'कलन्दर'- बन्दरों का नाच दिखाते हैं और कुछ चीजें बनाकर बेचते हैं 'रच्छबन्' बुनाई करने वाले होते है । 'सिगीवाला' और 'वैद्य' भी जड़ी बूटिया [illegible] करते हैं और घूम-घूम कर बेचते हैं ।

कुछ जैसे कि कनौजिया, झिझोरिया और वृजवासियों का नामकरण उस स्थान के भी नाम पर हुआ है जहाँ से वे एक स्थान से दूसरे स्थान पर गये। कुछ जैसे कि घामरा का मतलब सुस्त होता है और चन्डाल का निर्दयी होता है इन लोगों का अपने इसी विशेष आदत के कारण नामकरण हुआ। कतिपय जातियों के नाम जो कि क्षेत्रीय कार्य के समय इकट्ठा किया गया वे हैं' सोडा' अथवा 'सैनी सोडा' 'घिरेला' अथवा' भूटिया राखन', रारा और उँटवार। सभी जातियाँ समान स्थिति में है। विवाह मुख्यतः जातियों और परिवार के अन्दर ही करने को वरीयता दी जाती है। ज्यादातर यह देखने में आया है कि बहुत से भाई और चचेरे भाई दूसरी जातियों के परिवारों में अथवा अपनी ही जातियों में करते हैं। बहुविवाह, अदला-बदली विवाह, तलाक, तलाक के बाद पुनर्विवाह या पति या पत्नी के मृत्यु के बाद दोनों के लिये पुनर्विवाह प्रचलित है।

जीवन यापन :-

कजंड लोग मुख्यतः जंगली जानवर के भोजन पर निर्भर रहते हैं। उनका भोजन निश्चित रूप से मांसाहारी होता है। वे हर तरह के जन्तु जैसे जलीय, स्थलीय, पक्षियों को मारते और खाते हैं। वे सियार, लोमड़ी, भेड़िया, शाही, जंगली बिल्ली, कठफोड़वा, [illegible], और छोटी-छोटी छिपकलियाँ का शिकार करते हैं। वे गिलहरियाँ, कबूतर, चील आदि को अपना शिकार बनाते हैं। वे कछुये को भी मारते और पकड़ते हैं। साँप, खेतों के चूहें,

छिपकलियाँ और कछुओं के अन्डे को भी खोद कर निकालते हैं। वे मरे हुये जानवर के अवशिष्ट को भी प्रयोग में लाते हैं। ज्यादातर कंजड़ जो कि भेड़िया से लेकर सरीसृपों तक को मारकर खाते हैं। यहाँ तक कि वे यदि उसे मरा हुआ पाते है तो उसे भी खा जाते हैं।[1] वे मेढकों को भी पकड़ते हैं और उसे स्कूलों और कालेजों की प्रयोगशालाओं में बेचते भी है और अपने प्रयोग में भी लाते हैं इसके अतिरिक्त वे जंगली पौधों से भोजन और ताड़ से रस भी निकालते हैं। मांस के अलावा वे दूध, अन्डा, अनाज, दालें और सब्जियों को भी प्रयोग में लाते हैं। कंजड़ लोग कुत्ते एवं बन्दर को नहीं खाते हैं।

## शिकार करने की तकनीक एवं प्रौद्योगिकी :-

कंजड़ों का मुख्य औजार 'खाटा' या 'खाँटी[2]' है। यह नाम संस्कृत के 'खन' शब्द से लिया गया है। जिसका अर्थ खोदना या छिद्र बनाना होता है। औजार में 1 से 1.2 मी० तक लम्बा लकड़ी का हत्था लगा होता है। 30 सेमी० लम्बा लोहे का ब्लेड लगा होता है। इसका आकार आयताकार या पतला नुकीला चाकू के धार जैसा बनाया जाता है। कंजड़ लोग लोहार से लोहे का ब्लेड बनवाकर उसमें हत्था स्वयं लगाते थे। नेशफील्ड के अनुसार सियार एवं भेड़ियों का शिकार करने के लिये इस औजार का प्रयोग 'कटार' या छोटे बरछी-भाले के रूप में करते थे। गाँव की झोपड़ी में सेंध लगाकर चोरी करने में प्रयोग करते थे, बिल में से साँप, जंगली चूहा, छिपकली को खोद कर निकालते

---

1. नेशफील्ड, जान सी०, 1883, पूर्वोक्त, पृ० 395

2. नेशफील्ड, जान सी०, वही, पृष्ठ - 369

में, खाने योग्य जड़ी-बूटियों को खोदन में, जमीन में से खसखस की जड़ निकालने में और लकड़ी काटने के लिये इस औजार का प्रयोग करते थे । यह अस्त्र-शस्त्र केवल नजदीकी लड़ाइयों में ही नहीं बल्कि जब भेड़िये या सियार भाग रहे होते थे तो इसे फेंक कर मारने में भी प्रयोग किया जाता था ।

खाबर एक लम्बा जाल होता है जो कि बड़े-बड़े भेड़ियों, सियार, लोमड़ी शाही, खरगोश आदि को पकड़ने में प्रयोग किया जाता है । यह लगभग 12 मीटर लम्बा, 1.2 मी0 चौड़ा नायलान के धागों से बुना हुआ होता है । यह गन्ने अथवा अन्य लम्बी फसलों या मूँज की झाड़ियों वाले खेतों में डाला जाता है । जहाँ जानवरों की उपस्थित ज्यादातर होती है । खाबर एक मोटे लट्ठे से बंधा हुआ होता है और उसमें खड़ी-खड़ी डंडियाँ लगी होती हैं । कंजड़ का एक वर्ग सभी खेतों में चारों तरफ से जानवरों को भगाते हैं जिससे कि वे जाल की तरफ जा सकें । तत्पश्चात् वे जाल को चारों तरफ से बन्द कर देते हैं और जानवर उसमें फंस जाते हैं ।

सूजा एक लम्बा भाला है जो कि कछुआ या अन्य जानवरों के मारने के काम में आता है । खोंच मेढकों और तालाब के अन्य जीवों को पकड़ने के काम में आती है । यह लम्बी खुले मुख वाला झोला होता है जो कि एक लम्बे बांस के डंडे से जुड़ा होता है ।

नश[illegible] के अनुसार कंजड़ लोग अपने साधारण शिकार में साधारण औजार एवं असाधारण दिमाग का प्रयोग करते हैं । औजार जो कि चिड़ियों को मारने के काम में लाते हैं वे बांस का एक डंडा होता है जिसके प्वाइन्ट पर लोहे की एक कटिया लगी होती है । जमीन पर दाना बिखेर कर ये लोग शान्त मुद्रा में

लेट जाते है और जब चिड़िया दाना चुगने के लिये आती है तो साँप जैसी तेज गति से वे उनमें से एक चिड़िया पर वार करके पकड़ लेते हैं। वे कभी-कभी धनुष-बाण का प्रयोग करते थे, परन्तु गुलेल {छोटी गोली के साथ} का प्रयोग करते थे। यह छोटी गोली धूप में सुखाई गयी मिट्टी की गोली होती है। इससे वे उड़ती हुयी चिड़िया का आसानी से शिकार करते हैं। भेड़िया पकड़ने के लिये ये एक किनारे पर जाल [illegible] प्रकाश कर देते है एवं दूसरी तरफ से खोदते हैं। भेड़िया प्रकाश की तरफ आकर्षित होकर जाल में फँस जाता है और कजंड लोग उसके सिर पर वार करके मार डालते हैं।

कजड़ के कुत्ते उनके शिकार में बहुत सहायक होते हैं। प्रत्येक परिवार 2 या 2 से अधिक कुत्ते रखता है कुत्ते पतले, फुर्त, मजबूत होते हैं। शिकार के लिये निपुण कर दिये जाते हैं। वे सियार, लोमड़ी, जंगली बिल्ली, खरगोश आदि पकड़ने में बहुत होशियार होते हैं।

<u>अन्य व्यवसाय :-</u>

आखेट एवं संग्रहण के अलावा कजंड़ लोग अन्य व्यवसाय से भी जुड़े हुये रहते है। वे जंगली चीजों से {शिल्प} कई वस्तुएँ बनाते हैं। उसे गाँवों एवं कस्बों में बेचकर अपने लिये अनाज, दूध एवं सुअर खरीदते हैं। वे पत्थर काटने में दक्ष होते है। पत्थरों की कुटाई एवं तराशने में उनका एकाधिकारी है। वे पत्थरों को तीक्ष्ण करने एवं उससे संबंधित अन्य कार्यों में भी भाग लेते हैं।

जिससे नियमित रूप से इन्हें किसानों के यहाँ कार्य मिलता रहता है । अपने कन्धे पर खन्ती को लेकर किसी गाँव में चक्कर लगाते हुये कंजड़ को देखना एक सामान्य बात है ,। खन्ती और छेनी को लेकर पत्थर के कार्य भी करते है। और मधु भी एकत्र करते हैं । गाँव की गलियों में चक्कर लगाते समय चिल्लाते हैं कि उनके पास शहद है और पत्थर को काटने के लिये औजार है, जिससे लोग शहद खरीद सके एवं छत्ता निकलवा सके या घर में पत्थर का कार्य करवा सके ।

वे सिरकी या मूंज से चटाई, बेंत से डलिया, टोकरी, ताड़ के पत्ते से पंखा, तिनके, घास या पुआल से हिन्दू बच्चों के लिये खड़खड़ाने वाला खिलौना जो हिन्दू बच्चों को बेंच देते हैं, बनाते हैं । मूंन्ज, घास एवं पलाश की जड़ों से रस्सियाँ बनाते हैं । इसके अलावे वे अन्य भिन्न-भिन्न प्रकार की रस्सियाँ बनाते हैं जो किसानों के खेती-बाड़ी के काम में आती है । वे बकरे, लोमड़ी, सीयार, गोह इत्यादि के चमड़ों को तैयार कर चमड़े का कार्य करने वालों को बेचते हैं । बकरे के चमड़े का उपयोग ढोलक बनाने में, सियार एवं लोमड़ी के चमड़े का उपयोग कर टोपी बनाने में, गोह के चमड़े का उपयोग बेग, जूता तथा अन्यसामान बनाने के काम में होता है । वे पलाश के पत्ते से दोने एवं पत्तल बनाते हैं तथा मिठाई के दूकानदारों को बेच देते हैं । सिरकी, नरकट द्वारा निर्मित चटाई का प्रयोग अपने झोपड़ियों को बचानेमें करते हैं । मुख्य रूप से इसे गाड़ीवान को अपनी वस्तुओं को वर्षा से बचाने के लिये बेचा जाता है । अपने घरेलू उपयोग के लिये ताड़ी तैयार करते है उसे निम्न वर्गीय हिन्दू परिवारों में भी बेचते हैं । कंजड उत्तरी भारत के मुख्य पथरकटों में गिने जाते हैं ।

ये सालमनी या सिल्क से सफेद ऊन की तरह के रेशों से धागों का निर्माण भी करते है और उसे बुनकरों को बेच देते हैं । प्राय: इन लोगों का सूती कपड़ों के धागे को धोने के लिय ब्रश बनाने पर पूर्ण एकाधिकार है । खसखस घास भी बेचते है जो कि परदा बनाने का काम आता है । जो मुख्यत: गर्मी में कमरों को ठंडा रखते हैं ।[1]

कंजड़ों का एक मुख्य पेशा जंगली मधुमक्खियों से शहद इकट्ठा करना है । और गाँवों में जहाँ मनुष्यों का आना जाना कम है वहाँ से भी मधु इकट्ठा करते हैं । वे गाँवों में जाकर छत्ता का पता लगाते हैं और उस गाँव के मालिक से समझौता करते है तदनुसार मालिक को थोड़ा सा हिस्सा भी देते है । कतिपय कजंड अपनी जीविका के रूप में भैंस, बकरी, मुर्गी पालते हैं । और काफी कम संख्या में सीमित रूप से खेती में भी लगे हुये हैं ।

अन्त्योष्टि संस्कार :-

कंजड़ों में शव को दफनाने के चार तरीके प्रचलित हैं :- §1§ मुर्दे के शरीर में पत्थर बांधकर डुबोना §2§ जलाना §3§ गाड़ना §4§ शव को जंगल में खुले छोड़ना । प्रत्येक आदिवासी जाति अपने वंशानुगत प्रथा के अनुसार शवदाह करती है । प्रथम तरीका कम प्रचलित है । तीसरा जो कि दफनाना

---

1. नेशफील्ड, जान सी0, 1883, वही, ।

है अधिकांशत प्रचलित एवं प्रशंसित है । अलीगढ़ जिले में प्राय: शवों को दफनाने की विधि प्रचलित है । लेकिन कभी-कभी शवों को जंगल में ही छोड़ दिया जाता है । यदि इसे दफनाया जाता है तो शव के पैरों को उत्तर में एवं सिर को दक्षिण दिशा में दफना दिया जाता है । इटावा जिले में दफनाने और जलाने के बीच की प्रक्रिया अपनायी जाती है । और दोनों विधियाँ प्रचलित है ।

**धर्म :-**

नेशफील्ड के अनुसार कंजड़ों के धर्म में मूर्तियों, मन्दिरों एवं मस्जिदों और पुजारियों का कोई खास स्थान नहीं है । इनका मुख्य देवता 'माना' है । जो हमेशा आदर की दृष्टि से देखा जाता है । और उसकी पूजा वर्षा ऋतु में समारोह पूर्वक की जाती है । जबकि जनजातियाँ बहुत कम प्रवास पर गयी होती है । ऐसे अवसरों पर कई दलों के सदस्य कुछ समय के लिये एकत्रित होकर एक सामान्य पूर्वज के प्रति निष्ठा या आस्था व्यक्त करते हैं । भक्त लोग एक पेड़ के नीचे एकत्रित होते हैं और एक सूअर, एक बकरा, एक भेड़, एक गोह, एक मुर्गा की बलि देते हैं । और भूने हुयें माँस तथा ताड़ी का होम करते हैं । ऐसा कहा जाता है कि पहले वे लोग ताड़ी पिलाकर अचेतन की अवस्था में एक बालक को लाकर उसकी बलि देते थे । पेड़ के चारों तरफ 'माना' के सम्मान में ये लोग नाचते हैं और गाना गाते हैं । कंजड़ की

देवियों में' मेरी ''प्रभा' और 'भुईया' का नाम लिया जाता है । मरी या मेरी मृत्यु की देवी है । प्रभा का अर्थ प्रकाश है यह स्वास्थ्य की देवी है । और भुईया या भवानी पृथ्वी की देवी है ।

कंजड़ों में बुरी आत्माओं को लेकर भय व्याप्त रहता है, जो उनके प्रति पूर्व में किये गये कृत्यों का बदला लेने के लिये जीवित शरीर में प्रवेश कर सकती है । सभी प्रकार की बीमारियाँ यहाँ तक की मृत्यु जो कमजोरी एवं हिंसा के कारण होती उसको भी बुरी आत्माओं से जोड़ा जाता है जब कोई रोगी ऐसी आत्माओं के प्रभाव में आ जाता है तो कंजड़ उसके लिये एक मध्यस्थ जिसे नयोटिया कहा जाता है उसकी सेवा लेते हैं ।

**परसंस्कृति ग्रहण :-**

लाखों एवं सैकड़ों वर्षों से स्थापित ग्रामीण एवं शहरी लोगों (मुख्यत: हिन्दू) के बीच की स्थित में कंजड़ लोग अन्य आखेटक एवं संग्रहक की तरह रह रहे हैं ।

स्वभावत: उनका कुछ संबंध इन तकनीकी एवं आर्थिक रूप से उच्चतर समुदायों से है । वे इन लोगों से प्रभावित हुये है । और बदले में उन लोगों को प्रभावित भी किये हैं । यह संबंध बढ़ता ही गया । इस प्रक्रिया में मून कंजड़ धीरे-धीरे नष्ट होते गये और उनके शिकार और चारे के लिये संसाधन घटते गये । पूर्णत: खानाबदोश होने की वजह से कंजड़ों के

दलों को गाँवों और शहरों के करीब बसना पड़ा । जीविका के पारम्परिक स्रोतों के काफी हद तक समाप्त हो जाने की वजह से उन लोगों को नई तरकीबों की खोज करनी पड़ी । इस काम के लिये परम्परागत शिल्प को कई क्षेत्रों में विकसित किया जैसे रस्सी बनाना, चटाई आदि का कार्य । इन चीजों को गाँवों एवं शहरों मे बेचकर ये लोग अपने लिये जरूरत की चीजें खरीदते हैं । जैसे कपड़ा, आभूषण इत्यादि । इस तरह धीरे-धीरे समाज के एक बड़े क्षेत्र से इनका संबंध स्थापित हो जाता है । कुछ इसमें व्यापारी एवं कुछ इसमें अधिकारी भी हो जाते है। आखेटन एवं चारे के लिये भ्रमण की प्रथा भी जारी है ।

इस परसंस्कृतिग्रहण की प्रक्रिया में कंजड़ों के सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक संगठन में भी परिवर्तन हुये हैं । वे पूजा के लिये हिन्दुओं के कुछ देवी-देवताओं को अपना लिये है कुछ अपने सामाजिक और धार्मिक संस्कारों में निम्न श्रेणी के ब्राह्मण पुजारियों की सेवायें भी लेते हैं । तथापि वे लोग अपने भ्रमण शील या अर्ध भ्रमण शील जीवन और सर्वाहारी होने के कारण हिन्दू जाति संरचना से पूर्णत: स्वतन्त्र और अलग थे । ये उन जानवरों को खाते थे जिनको हिन्दू गन्दा मानते थे ।

जान नेसफील्ड यह मानते है कि बहुत से शिल्पकार एवं हिन्दुओं की निम्न जातियाँ कंजड़ों से ही बनी है । इस विषय में उनको उद्धृत करना प्रासंगिक होगा । ' कंजरों के अधिकांश कला और उद्योगों में उन पर

वंशानुगत प्रभाव का परिणाम है और जो निम्न जातियों में प्रचलित है। जैसे बहेलिया, बारी, वेहना, चमार, धाकड़, कोरी, कल वार, इस तरह हम तार्किक रूप से जोड़ सकते हैं कि एक समय सम्पूर्णउत्तरभारत में खानाबदोश जनजातियाँ विद्यमान थी : लेकिन उनमें से अब कुछ ही विद्यमान हैं। जिनमें से अनेक जातियाँ अपने कार्य विशेष के साथ धीरे-धीरे चलन में आ गयी।

अब जो हम कंजड़ों को देख रहे हैं नि:सन्देह पहले विद्यमान लोगों के थोड़े से भाग बचे हैं, और यह सम्भावना है कि इतिहास के आइने में इनमें काफी बदलाव आया है यदि इनके पास अपनी कोई प्रथा थी भी तो बहुत सीमित रूप में बची हुयी है।

उनको अपने जंगली क्षेत्रों के सीमित होते जाने से रहने की समस्या पैदा हो गयी है। उदा० के लिये आधुनिक काल में अनेक छोटी-छोटी कंजड़ों की टोलियाँ लखनऊ और इसके आस-पास पहचानी जा सकती है। वे लगातार 7-8 वर्षो से विद्यमान है। वे डेरा डाले टोली बनाकर दिखती है। ये धीरे-धीरे हिन्दू रीति-रिवाजों को अपनाते जा रहे हैं एवं अपनी पारम्परिक रीति-रिवाजों को भूलते जा रहे हैं। अर्थात धीरे-धीरे अब ये अपनी अस्मिता खो रहें हैं। यह कहना असम्भव है कि निम्न जातियाँ

जैसे चमार, कोरी, पासी, बेहना, बारी इत्यादि मूलत: कंजड़ नहीं हैं, या यह कहना असंभव है कि कंजड़ों की सूक्ष्म संख्या ने भी इतिहास के प्रारम्भिक क्षणों में अपने को सामाजिक पैमाने के उच्च जातियों में शामिल किया' खंजर' जाति जिसके सदस्यों पर यदि विश्वास किया जाये तो निश्चित रूप से कंजड़ रहे होंगे ।[1]

हाल में हुये परिवर्तन :-

स्वतन्त्रता के बाद कंजड़ को अधिअनुसूचित जाति घोषित कर दिया गया है ।[2] और उन्हें अपराधिक समूहों से स्वतन्त्र रखा गया । उन्हें अनुसूचित जाति के साथ रखा गया । इस तरह से उन्हें शिक्षा, सरकारी नौकरियों एवं आर्थिक रहन सहन के लिये प्राथमिकता मिली । मैदानी क्षेत्रों में पूरी तरह से जंगलों के लुप्त हो जाने के कारण अब सभी कंजड़ समूह गाँवों और कस्बों में या उसके नजदीक बस गये । जबकि उसमें से कुछ शिकार करना, मधु इक्कट्ठा करना, धागे बनाना और उसकी वस्तुयें बनाकर बेचना तथा अन्य विरासत की गतिविधियों को जारी रखे हुये है । उनकी सामान्य गरीबी एवं सामाजिक पिछड़ेपन के कारण कंजड़ों का एक छोटा सा समूह ही शिक्षा और सरकार की अन्य समुदाय का लाभ ले पाया । कुछ युवक कालेज की शिक्षा ग्रहण करके विभिन्न सरकारी विभागों में नौकरियाँ प्राप्त किये । इस समूह के ज्यादा बुद्धिमान और व्यवसायी सदस्यों ने अपनी आर्थिक दशा में बहुत सुधार किये । हाल के वर्षों में कमजोर वर्गों को ऊपर उठाने के लिये बहुत सी सरकारी योजनायें

---

1. नेशफील्ड, जान शी, 1883, पूर्वोक्त, पृ0 397-98
2. आयंगर, ए0, 1951, क्रिमिनल ट्राइब्स एक्ट इन्क्वायरी कमेटी 1949-50, न्यू दिल्ली, मैनेजर आफ पब्लिकेशन ।

चलायी गयी जिसमें उनको घर के लिये जगह, खेती के लिये जमीन कृषि यन्त्र और बीजों को कम करने के लिये तथा गृह निर्माण एवं व्यापार हेतु कर्ज दिया गया । उनमें से कुछ जो शहरों में रहते हैं कारखानों में निर्मित सामानों (जैसे प्लास्टिक की वस्तुओं का) व्यापार कर रहे हैं । वे अपने सामान कस्बों में 4 पहिये की गाड़ी से बेचते हैं । गाँवों में साइकिल का प्रयोग करते हैं । कुछ ने तो बड़े पैमाने पर व्यापार शुरू किया है जैसे कि ईंधन की लकड़ी और टिम्बर की बिक्री करना अथवा मिलों में नौकरी करना

मैनपुरी जिला के भोगाँव कस्बे के कुछ कंजड़ ट्रान्सपोर्ट व्यापार में लगे हुये हैं । वे अपना ट्रक रखते है तथा पक्के घरों में रहते हैं । सरकार के विभिन्न योजनाओं के तहत कंजड़ों का एक बड़ा समूह धीरे-धीरे अपने अधिकार को जान रहा है और अपने सामाजिक स्तर को बढ़ा रहा है । फर्रुखाबाद कस्बे में शिक्षित कंजड़ युवकों का एक समूह जो कि यू0 पी0 हिल की भोक्सा जाति से सम्बद्ध है, वह राज्य विधानसभा और अन्य राजनीतिक संस्थाओं में अपने आधार को प्रमाणित किया है । ज्यादा क्रियाशील कंजड़ लोग अब अपने पूर्वज शासकों और उनकी पहले की राजधानियों के बारे में बताते हैं । धीरे-धीरे उनकी सामाजिक-आर्थिक स्थिति में सुधार के बारे में जो महत्वपूर्ण कठिनाई है वह उच्च जन्मदर एवं परिवार नियोजन के साधनों की [illegible] के कारण है । जबकि यह निश्चित है कि समय-समय के साथ-साथ वे अपनी

शिकारी प्रवृत्ति को छोड़ देंगे और उच्च सामाजिक क्षमता को प्राप्त कर लेंगे ।

पुरातात्विक विवरण के पहलुओं का महत्व :-

पिछले 20 वर्षों में स्व० प्रो० जी० आर० शर्मा एवं उनके सहयोगियों ने इलाहाबाद विश्वविद्यालय में गंगा मैदान के दक्षिणी भाग में मध्य पाषाण कालीन संस्कृति (उद्योग) के महत्व पर प्रकाश डाला है । उन्होंने 150 से ऊपर मध्यपाषाण कालीन जगहों में जैसे इलाहाबाद, वाराणसी, प्रतापगढ़, जौनपुर, सुल्तानपुर, आदि जनपदों के क्षेत्रों का अवलोकन किया । उनमें से 3 स्थानों सरायनाहर राय, महदहा दमदमा में उत्खनन कार्य भी सम्पन्न किया । उत्खनन में माइक्रोलिथिक उपकरण, शिकार करने के पत्थर वाले औजार, हड्डियाँ, एवं हड्डियों के बने उपकरण एवं गहने, बड़ी मात्रा में जानवर और बड़े-बड़े कब्रों में मनुष्यों के शव आदि विभिन्न रूपों में मिले हैं । गंगा घाटी के दोमटी मैदान के ये पहले उपनिवेशी थे जो कि दक्षिण के जंगली एवं पर्वतीय इलाकों से आये थे, जो कि निचले पुरापाषाण काल के प्रस्तर युग के शिकारी और खाद्य संग्राहक थे ।

गंगा मैदान के कंजड़ और अन्य शिकारी प्रवृत्ति के समुदायों के लोग निश्चित ही मध्यपाषाण कालीन शिकारी एवं खाद्य संग्राहक के वंशज

हैं । और वे (अपने पूर्वजों के ) पुराइतिहास के रहन-सहन् और अन्य विरासती चीजों को अपनाते रहे हैं । इस तरह से इनकी शिकारी प्रवृत्ति मध्यपाषाण काल से प्राप्त विवरण के लिये बहुत महत्वपूर्ण है । 19वीं शताब्दी में ज्यादातर कंजड़ लोग घुमन्तू प्रवृत्ति के थे और जंगलों में जंगली जानवरों और पौधों के बीच कैम्प डालकर रहा करते थे जबकि बहुत से समूह ( दल ) बरसात के दिनों में विभिन्न संस्कारों एवं सामाजिक गतिविधियों में भाग लेने आते होंगे । जगली जानवरों की बड़ी प्रजातियाँ कंजड़ों द्वारा भोजन के रूप में प्रयोग में लायी जाती हैं । वह भी मध्यपाषाण कालीन व्यवस्था की प्रतिनिधित्व करती है । शिकार के औजार और विधियाँ भी प्री ऐतिहासिक लोगों की गतिविधियों से समानता रखती हैं । कंजडों की हस्तकला, धागा बनाने और सरकन्डे का काम आदि भी मध्यपाषाण कालीन लोगों के हस्तकला पर प्रकाश डालता है ।

## सामाजिक इतिहास के कुछ बिन्दु :-

शिकारी एवं खाद्‌य संग्राहक प्रवृत्ति के लोग स्थापित समाज में जो चीज खाते हैं वह भी कंजड़ों के रहन-सहन को जानने के लिये उतना ही महत्व रखता है । जैसा कि स्थापित लोगों के द्वारा जंगलों को साफ करने से उनका रहन-सहन सिकुड़ता गया, और शिकारी एवं खाद्‌य संग्राहक प्रवृत्ति के लोग स्थापित लोगों के सम्पर्क में आये जबकि उनकी विरासत की चीजों के लगातार कम होने से वे विभिन्न तरह के वातावरण में अपने को जिन्दा रखने के लिये अन्य व्यवसाय अपनाते गये । हिन्दू समाज के अन्य जातियों के बहुत से शिल्पकारों ने भी जनजातीय समुदायों जैसे कि कंजड़ों के बीच में आना शुरू किया । समाज में बड़े पैमाने पर कंजड़ों की लगातार एकता हमको [illegible] हिन्दू समाज तन्त्र के विकास के बारे में जानकारी देती है ।

कंजड़ उत्तर भारत के तराई क्षेत्रों में रहने वाली बहुत सी शिकारी एवं घुमन्तू समुदायों में से एक प्रमुख समुदाय है । ये समुदाय निश्चित रूप से इस क्षेत्र के मध्यपाषाण कालीन उपनिवेश के वंशज हैं । यद्यपि करोड़ों ग्रामीण एवं शहरी लोगों के द्वारा उनके जंगलों के नष्ट करते जाने से उनका रहन-सहन बड़े पैमाने पर बदलता गया तथापि शिकारी प्रवृत्ति के बहुत से लोग अपने रहन-सहन का ढंग, भाषा, लोकसंगीत, सामाजिक संगठन और धर्म आदि को बनाये रखा है । उनके बारे में महत्वपूर्ण जानकारी ब्रिटिश और भारतीय अधिकारियों के लेखन में उपलब्ध है । और वर्तमान शताब्दी के शुरू और वर्तमान के दिनों में एनथोग्रेफर्स के द्वारा जानकारियाँ इकठ्ठी की गयी । यह जानकारी ही पुरातत्वविदों को मध्यपाषाण कालीन समाज के पुनर्निमाण के महत्व पर प्रकाश डाल सकती है । सामाजिक इतिहासकारों के लिये जनजातीय लोगों की जाति व्यवस्था की एकता को समझना बहुत ही लाभदायक है । इसलिये यह महत्वपूर्ण जानकारी का स्रोत पुरातत्वविदों एवं इतिहासकारों के द्वारा बहुत थोड़ा प्रयोग में लाया गया है और आज इन पर कोई भी वास्तविक क्षेत्रीय शोध बहुत मुश्किल से हो रहा है ।

कंजड़ जातियों के सम्यक अवलोकनोपरान्त गंगाघाटी के मैदानी क्षेत्रों की अन्य जनजातियों का सम्यक अध्ययन भी महत्वपूर्ण प्रतीत होता है, जिसमें सर्वप्रथम हम कतिपय अन्य जनजातियों की आवासीय पद्धति का अवलोकन करेंगे ।

## आवासीय पद्धति :-

ये सभी समुदाय ... क्कड़ एवं प्राय: कैम्पों में रहने वाले रूप में उल्लिखित किये जाते हैं । इन समुदायों में से कुछ गाँव या शहर [टाउन] के बाहरी हिस्से में अस्थायी या स्थायी रूप से बस चुके हैं ।

शैरिंग[1] के अनुसार अहेरिया एक जंगली एवं असभ्य जनजाति है, ये अत्यधिक गरीब और तकरीबन पूरी तरह वस्त्र विहीन होते हैं । क्रुक के अनुसार बंगाली लोग सम्पूर्ण ऊपरी दोआब और पंजाब तथा पड़ोसी प्रदेशों में घूमते हैं तथा गंधीला लोग शिरकी से निर्मित झोपड़ी में रहने वाली घुमक्कड़ जनजाति है, जो मुश्किल से कुछ दिन तक एक ही स्थान पर रहते हैं और इन्हें ऊपरी गंगा जमुना दोआब के निवासी के रूप में पुकारते हैं। लेफ्टिनेन्ट आर० सी० टेम्पले[2] गंधीला लोगों के बारे में कहते हैं कि वे प्रायः 'बिना घर के झाडू लगाने वाले' के रूप में उल्लिखित किये जाते हैं । वे निचली श्रेणी के मुसलमान हैं और देखने में पशु प्रवृत्ति के मनुष्य होते हैं । भांटू घुमक्कड़ प्रवृत्ति के साथ कैम्पों में रहकर यथासम्भव गांवों से दूर रहने का प्रयास करते हैं, कई अन्य समूहों के व्यक्ति इनमें यात्रा के दौरान सम्मिलित हो जाते हैं[3]। बेरिया भी घुमक्कड़ होते हैं और वे बरसात के मौसम में एटा जिले के पास मिलते हैं और यहां पर वे अपनी जनजातियों की एक सभा का संचालन करते हैं जिसमें शादी विवाह एवं जाति सम्बन्धी सभी समस्याओं पर विचार - विमर्श करते हैं । क्रुक के अनुसार सँसिया जनजाति सिरकी की झोपड़ी बनाकर रहते हैं । वे कुत्तों के बड़े शौकीन होते हैं और अनेक कुत्तों को अपनी सुरक्षा के लिये पालते हैं । कैम्प प्रायः बालू के ऊपरी टीले पर बनाये जाते हैं और

---

1. शैरिंग, एम०ए०,1872, हिन्दू ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स एज रिप्रेजेन्टेड इन बनारस ।

2. टैम्पले, आर०सी०,1882, फाल्कलोर इन दी पंजाब, द इण्डिया एन्टीक्यूरी 11 : 42 ।

3. बोनिंगटन, सी०जे०,1935, सेन्सस आफ इण्डिया,1931,वाल्यूम 1, इण्डिया, पार्ट 3 : एथनोग्रेफिक, पृ० 37

और ऊपरी दोआब के भागों में घूमते रहते हैं । वे अनेक संख्याओं में बैल एवं गधे को अपने सामान को ढोने के लिये तथा गाय एवं बकरी दूध के लिये पालते हैं । भांटू समूहों के सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि वे एक दर्जन परिवार मिलकर एक गैंग का निर्माण करते हैं ।

जीविका : शिकार करना, पकड़ना एवं मछली मारना :-

ये सभी समूह अलग-अलग सीमा तक शिकार करने एवं भोजन की तलाश में घूमते हैं । उनमें से बहुत से लोग अपनी पसंद के उन पशुओं का भी पालन करते हैं जिनको वे खाते हैं[1] । केवल हिन्दू भावनाओं को ध्यान में रखते हुये वे गाय का मांस नहीं खाते हैं । शेरिंग[2] के अनुसार अहेरिया सांपों को पकड़कर भूनते हैं एवं खा जाते हैं । उनमें कुछ का यह मुख्य व्यवसाय है । वे कुछ हद तक चिड़ीमार भी होते हैं । पंजाब में हर तरह के जंगली पशुओं को पकड़ते एवं खा जाते हैं । वहेलियों का व्यवसाय शिकार करना, चिड़ियों को पकड़ना एवं जंगली उत्पाद को इकट्ठा करना बताया गया है । उनमें से चिड़ियों को पकड़ने वाले 'मिसकार' के नाम से जाने जाते हैं, जो कि 'मीर-शिकार' का बिगड़ा रूप है जिसका अर्थ 'मुख्य शिकारी' या 'मस्कर' (अर्थ मांस खाने वाला) होता है । उनमें से कुछ चिड़ियामार के नाम से जाने जाते हैं, और दूसरे समूह की विशेषता है, जिनको

---

1· विद्यार्थी, ललित प्रसाद, 1975, भारतीय आदिवासी (उनकी संस्कृति और सामाजिक पृष्ठभूमि), पृ0 4 - 7 ।

2· शैरिंग, एम0 ए0, 1872, वही, पृ0 405 ।

कराउल कहा जाता है, वे पशुओं का शिकार करने के लिये एक पालतू बैल को चारे (प्रलोभन) के रूप में बाँध देते हैं । ये एक बुद्धिमान शिकारी एवं खिलाड़ी के रूप में जाने जाते हैं । वे मुर्गी का माँस, बकरा, हिरण और भेड़ खाते हैं । परन्तु सुअर या गाय का माँस नहीं खाते । वे कभी गाय, बंदर, एवं गिलहरी को नहीं मारेंगे । वे स्वच्छन्द रूप से मदिरापान करते हैं । बहेलियों की तरह बन्दी भी मूल रूप से चिड़िया पकड़ने वाले होते हैं । बंगाली लोग शाकाहारी एवं माँसाहारी पशुओं का माँस, मुर्गा, हर तरह की मछली और मगरमच्छ खाते हैं । गंधीला लोग गिलहरी, बटेर, कछुआ, कुत्ता, किसी प्रकार का सड़ा हुआ गन्दा माँस, दुर्गन्धित माँस, सभी प्रकार के वे कीड़े जो अन्न को नुकसान पहुँचाने वाले होते हैं, जिसे वे पकड़ते हैं खा जाते हैं ।

बधिक जंगली मुर्गा, कीड़ा, मकोड़ा, लोमड़ी, सियार, एवं छिपकली खाते हैं । वे ऐसा विश्वास करते हैं कि सियार का माँस जाड़े की कष्टकारी स्थिति से बचाता है । शैरिंग के अनुसार उत्तर प्रदेश के कुछ जिलों में इन्हें सियार का माँस खाने के कारण खोर या सियारमरवा पुकारा जाता है । बावरिया लोग बहेलिये एवं बंदी की तरह सभी प्रकार के पक्षियों को पकड़कर अपना जीवन निर्वाह करते हैं । वे केवल गो-माँस को छोड़कर किसी भी प्रकार का माँस खाते हैं और स्वच्छन्द रूप से मदिरापान करते हैं । वाही[1] के अनुसार भांटू लोग कुछ चार पैरों वाले पशुओं जैसे गाय, हिरन को छोड़कर शेष को खाते हैं । वह पानी में

---

1. वाही, एल0 एन0, 1949, दी भान्टूस, ए क्रिमिनल ट्राइब इन दी यूनाइटेड प्राविन्सेज, मैन इन इन्डिया, 29 : 84 - 91 ।

रहने वाले जन्तुओं को नहीं खाता । जैसे मछली, कछुआ क्योंकि वे इसे गंदा मानता है । हबूरा गोहिया, साँडा, जंगली चूहा, सियार, जंगली बिल्ली, भैंस, खरगोश, चिड़िया ( खाने वाला मुर्गा ) कछुआ, मछली, मगरमच्छ और अन्य प्रकार के कीड़े, मकोडों को मारता एवं पकड़ता है । ये लोग वे सभी चीजें और सुअर का मांस भी खाते हैं लेकिन गाय और गधा नहीं खाते हैं । कूक[1] के अनुसार वेरिया लोग जो पा सकते हैं सब खा जाते हैं, चाहे वह सड़ा हुआ सियार हो या गो-मांस या सूअर के मांस का टुकड़ा हो । वे कभी-कभी बिना बड़ी मात्रा में जंगली जानवरों एवं अन्य सभी प्रकार के मांस की आपूर्ति के रहते हैं । कई तरह की चिड़ियों को सुखाकर वे चिकित्सकीय कार्य के लिये रखते हैं । नेवला, गिलहरी, एवं वन्यमुर्गी को वे ऐश्वर्य का साधन मानते हुये खाते हैं । मदिरापान एवं धूम्रपान ज्यादा करते हैं और इनके कबीले को प्रधान भंगी या पियक्कड़ जैसे सम्मान सूचक शब्दों से पुकारा जाता है । सांसिया के सन्दर्भ में उनके शिकार करने की विधि के बारे में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है । परन्तु ये लोग भी [illegible] प्रवृत्ति के लोग हैं, जंगलों में रहते हैं और अन्य दूसरे [illegible] के करीबी माने जाते हैं । अतः यह निश्चित है कि ये लोग भी उसी तरह से शिकार करके अपनी जीविका चलाते होंगे ।

**संग्रहण :-**

ये सभी समुदाय जंगली फलों से भी अपनी जीविका चलाते हैं, यद्यपि सूचनानुसार इनकी [illegible] जितना शिकार के आधार पर प्रचुर है उतना

---

1. कूक, डब्ल्यू, 1896, पूर्वोक्त, वाल्यूम · 243 ।

जंगली फलों ﴾ उत्पादों ﴿ से नहीं है । अहेरिया लोग ढाक से गोंद और शहद इकठ्ठा करते हैं । बावरिया औरतें जड़ी एवं बूटी बेचती हैं, जो कि वे जंगल से इकठ्ठा करती हैं । कंजर लोग जड़ी एवं ऐसे पौधों को इकठ्ठा करते हैं, जिसकी खेती नहीं की जाती, और जंगलों में आसानी से उपलब्ध होती है । वे ताड़ का जूस ﴾ ताड़ी ﴿ भी निकालते हैं जो एकत्रित करने के बाद उनका एवं अन्य छोटी जातियों का प्रिय पेय पदार्थ बन जाता है[1] । वे शहद इकठ्ठा करने में बेहद कुशल थे और आज भी हैं ।

## शिकार करने की प्रौद्योगिकी एवं विधियाँ :-

कंजरों के अलावा और किसी भी समुदाय के शिकार करने की प्रौद्योगिकी और विधि की विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है । कंजरों के प्रौद्योगिकी एवं विधि की जानकारी का पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है । बहेलिया लोग पंक्षी पकड़ने के लिये बांस के पतले-पतले लठ्ठे के द्वारा सबसे ऊपरी हिस्से में लासा लगाकर प्रयोग करते हैं । वे इस लठ्ठे को डाल एवं पत्तियों के नीच बैठी हुयी चिड़िया के पास सावधानी से ले जाकर उसके डैने एवं पंखे में लासा लगा देते हैं । शैरिंग[2] के अनुसार बहेलिये जमीन पर बैठी चिड़ियों को पकड़ने के लिये तेजधार वाले लठ्ठे का प्रयोग करते हैं । वह धीरे-धीरे इस लठ्ठे को दाना चुगने में व्यस्त चिड़ियों के मध्य ले जाता है, सर्प की भांति टेढ़े मेढ़े होते हुये इन्हें पकड़ लेता है । वह

---

1• नेशफील्ड, जान, सी0, वही , पृ0 369 ।

2• शैरिंग, एम0 ए0,• 1872, वही, पृ0 352 ।

जब देखता है कि उसका लट्ठा चिड़िया के पास पहुँच गया है तो हल्के झटके के साथ चिड़िया के सीने में मारता है एवं पकड़ लेता है । उस ञ्पटाती हुयी चिड़िया को अलग झोले में रखकर इस प्रक्रिया को दुहराता है । बहेलिया लोग मदार के पेड़ से दूध निकालकर लकड़ी के लट्ठे के अग्रभाग में लगाकर भी चिड़ियों को उसी विधि से पकड़ लेता है क्योंकि मदार से निकले पदार्थ से चिड़िया सूँघकर गिर जाती है । धनुष एवं वाण का प्रयोग केवल बेरियों के संदर्भ में ही मिलता है[1] । इनके बारे में कहा जाता है कि ये जाल बिछाने एवं पकड़ने में बहुत प्रवीण ﴾ चतुर ﴿ होते हैं ।

अन्य व्यवसाय :-

ये सभी समुदाय कस्बों एवं गांवों के लोगों की आवश्यकतानुसार जंगली उत्पाद जिससे वे कई तरह के आवश्यक वस्तु बनाते हैं, को भी एकत्रित करने के कार्य में लगे हुए हैं । ये वस्तुएं या तो बेची जाती है या फिर क्रय वि िपमित की जाती है । अहेरिया लोग पतरी बनाने के लिये पलास के पत्ते को इकठ्ठा करते हैं और हिन्दुओं को बेच देते हैं । वे टोकरी बनाने के जिये नरकट भी इकठ्ठा करते, रस्सी बनाते, वॉचमैन एवं अन्य सेवाओं में रखे जाते थे । मिर्जापुर में कुछ लाख की फेक्ट्री में लगे हैं, और कुछ अधिया पर खेती करते हैं । गंधीला लोग घास एवं तिनके इकठ्ठा करके टोकरी एवं चलनी बनाते, बटेर पकड़ते, चाकू एवं तलवार पर धार लगाते, लकड़ी काटते, और प्राय: अन्य सेवाओं में लगे हैं [2] ।

---

1· कुक, डब्ल्यू0, 1896, पूर्वोक्त, वाल्यूम, 1:243 ।

2· रोज, एच0 ए0, 1919, ए ग्लोसरी आफ दी ट्राइब्स एन्ड कास्ट्स आफ दी पंजाब, एन0डब्ल्यू0 एफ0पी0· वाल्यूम, 2:278 ।

बावरिया औरतें रजाई की सिलाई में निपुण होती हैं एवं उसे बेचती हैं । बेड़िया लोग अपनी सुविधा के लिये सभी तरह के कार्य करते हैं, उनके लिये प्रशासनिक, सामाजिक नियम नहीं लागू होते । उनकी औरतें हस्तरेखा संबन्धी बातें बताती हैं । वे भैंस की सींग से कप बनाती हैं । प्लीहा एवं संधिवात (गठिया) रोगों के लिये दवा भी बनाती हैं । वे गोदना भी गोदती हैं । घर पर औरतें ताड़ के पत्ते से चटाई बनाती हैं, जबकि उनके पति भोजन पकाते हैं ।

पूर्वी वावरिया अब व्यवस्थित होकर खेती करने लगे हैं । कुछ स्थानों पर जैसे अलीगढ़ में अहेरिया लोग भी खेती करना शुरू कर दिये हैं एवं दिन प्रतिदिन सभ्य होते जा रहे हैं । बंगालियों, कंजरों एवं बेड़ियों के अलावा और सभी पुराने पद्धति से शल्य - क्रिया करते हैं । गंधीला एवं बेड़िया लोग अपनी औरतों को वेश्यावृत्ति में लगाते एवं बड़ी जाति के हिन्दुओं से माँग कर खाते-पीते हैं । बैंदी लोग ढोल बनाते एवं चिड़ियों को हिमालयन तराई में पकड़ते हैं । उनका मुख्य व्यवसाय चिड़ियों को पकड़ना एवं बेचना है । वे पक्षियों को पकड़कर शहरों में ले आते हैं जहाँ धार्मिक प्रवृत्ति का व्यक्ति जैसे जैन (बनिया) पैसा देकर उसे दया कार्य समझकर छुड़वा देता है, या कोई बीमार व्यक्ति अपना रोग भगाने के लिये इन पक्षियों को छुड़वाता है । ये अपने रहन-सहन एवं व्यवसाय में बहेलियों जैसे होते हैं । वावरिया लोग भी पक्षी पकड़ते हैं एवं खाने योग्य चिड़ियों को बेच देते हैं, दूसरे वे पक्षियों को लेकर धनी जैनों के पास पिंजड़े से उड़ा देते हैं ।

अपराध :-

इन जनजातियों में प्रचलित आपराधिक प्रवृत्तियों का विवरण नदीम हसनेन[1] तथा मालती नागर और वी0 एन0 मिश्र[2] ने किया है ।

इन समुदायों के आपराधिक प्रवृत्ति के बारे में विस्तृत विवरण उपलब्ध है बहेलिया, बन्दी एवं बंगालियों के अलावा अन्य समूह भिन्न-भिन्न स्तर पर अपराधों में लिप्त हैं । कुक के अनुसार अहेरिया लोग - सेंधमारी एवं राजमार्गों पर डकैती एवं प्रान्तों में सक्रिय अपराधों में लिप्त हैं । उनके बच्चे बचपन से ही चोरी करना सीखते हैं एवं 16 साल की उम्र में वे अभियानों {डकैती} पर जाने लगते हैं । गैंग की संख्या 10 से 20 तक होती है । कभी-कभी यह 40 भी हो जाती है । उनका नेता अपने दिमाग, बुद्धि एवं साहस के आधार पर बन जाता है । जब किसी अभिमान के दौरान इनके पहचान के बारे में पूछा जाता है तब साधारणतया ये अपने को किसी सम्मानजनक समुदाय से सम्बन्धित बताते हैं । ये सरायों में नहीं रुकते और साधारणतः राजमार्गों से 100 या 200 गज पीछे रुकते हैं, जहाँ से ये यात्रियों, वाहनों पर नजर रखते हैं । वे सभी सोटा लेकर चलते हैं, लेकिन एक या दो तलवार भी रखते हैं । वे वाहन के रक्षक या ऊँट को पहले चूने के पत्थर या पत्थर से मारना प्रारम्भ करते हैं । इस कारण रक्षक भाग जाते हैं यदि ऐसा नहीं होता तो वे सभी {अहेरिया} इकट्ठे होकर अपने सोटे से डराते

---

1. नदीम हसनेन, 1990, वही, पृ0 163 ।

2. नागर मालती, वी0 एन0 मिश्र, 1982, वही, पृ0 65 - 72

धमकाते हैं। वे दावा करते हैं कि यद्यपि वे व्यवसाय से चोर तो हैं परन्तु वे राजमार्गों पर कभी डकैती नहीं करते।

मेजर टेम्पुल के अनुसार - गंधीला लोग पुराने चोर होते हैं, विशेष रूप से कुत्तों के जिसे वे खा जाते हैं। कंजर लोग मूल रूप से शिकारी होते हैं परन्तु उनमें से कुछ डकैती भी करते हैं। नेशफील्ड के अनुसार बहुत डकैत जो रात्रि में राजमार्गों पर घूमते हैं, वे कंजर हैं, और कभी -कभी वे हिन्दुओं में बुरी प्रवृत्ति वालों से मिलकर भी डकैती करते हैं। बधिक लोग शरारती डकैत (राजमार्गी डकैत) के रूप में जाने जाते हैं। उन लोगों की एक [illegible] होती है कि वे अपने को [illegible] या बैरागी के रूप में बदल लेते हैं, और गंगाजी से लौट रहे तीर्थयात्रियों में मिलकर धार्मिक कार्य करते हैं एवं उन्हें (यात्रियों) धतूरा खिलाकर लूट लेते हैं। वे पहले लूटमार का अभियान किया करते थे। शैरिंग[1] उन्हें व्यवसायिक डकैत एवं कत्ली घोषित करते हैं।

क्रुक के अनुसार, बावरिया परम्परागत कत्ली एवं लुटेरे थे, और वे कभी भी कृषि कार्य में नहीं लगे थे। पश्चिमी क्षेत्र के बावरिया अच्छी तरह से आपराधिक जनजाति के रूप में जाने जाते थे। उत्तरी भारत के बड़े क्षेत्र में वे अपने आपराधिक [illegible] चलाते थे, परन्तु वे अपना भेष बदल कर फकीर बनकर ही ये कार्य करते थे। उनकी पहचान केवल एक विशेष प्रकार की लकड़ी के हार से होती थी जो सभी पहनते थे, और वे सोने की पिन जैसा दांत के अग्रभाग में लगाते थे। उनकी चोरी करने की विशेषता यह थी कि जब वे किसी घर में

---

1. शैरिंग, एम० ए०, 1872, पूर्वोक्त, पृ० 390

चोरी करने जाते तो अनाजों को उड़ेल देते थे एवं उसमें रखे पीतल या अन्य धातु को खोज लेते थे ।

भाँटू लोग भेष बदलकर काफी दूर तक चोरी, राहजनी एवं डकैती के लिये जाने वाले के रूप में जाने जाते हैं । इनका गैंग 30-40 व्यक्तियों का होता है । खजाने की जानकारी प्राप्त करने के लिये ये लोग कठोर एवं उग्र तरीके अपनाते हैं । जैसे जलते हुए तारकोल पर औरतों को बैठाना या उनसे बलात्कार करते हैं । इनका परम्परागत हथियार एक छोटा, कठोर लकड़ी की छड़ी था जिससे तेजी से वार करते थे । हाल के वर्षों में ये बन्दूक का भी प्रयोग करने लगे हैं । इनके गैंग में औरतें भी होती हैं । यह भी प्रचलित है कि भाँटू औरतें आपराधिक कार्यों में अग्रसर होने की भी इच्छा रखती हैं । वाही[1] के अनुसार भाँटू लोग अपराध को एक धार्मिक कार्य के रूप में अपनी जनजाति के लिये करते हैं । जो भाँटू जितनी कुशलता से अपराध करता है उसका समाज में उतना ही ज्यादा सम्मान होता है । जवान लड़की किसी शादी से मना कर सकती है, परन्तु अपराध की तरफ प्रवृत्ति होती है । वे हर तरह से भेष बदलने में सांकेतिक भाषा बोलने में, छोटे गहनों को छिपाने में प्रशिक्षित होती हैं ।

वेड़िया जनजाति की औरतें गाँवों में जाकर सम्पत्ति के बारे में जानकारी प्राप्त करके अपने आदमियों को बताती हैं । आदमी लोग खेतों से फसलें एवं गाँव के घरों से सम्पत्ति चोरी करते हैं । ये लोग गम्भीर अपराध भी करते हैं । ऊँट गाड़ियों पर हमला करना, शादी पार्टियों को रात में लूटना इनकी आपराधिक

---

1. वाही, एल० एन०, 1949, दी भान्टूस, ए क्रिमिनल ट्राइब इन यूनाइटेड प्रोविन्सज, मैन इन इन्डिया, 29 : PP 84 - 91 ।

गतिविधियों में सम्मिलित है[1] ।

हंबूरा की घुमक्कड़ शाखा के बारे में कहा जाता है कि ये अपने पड़ोसियों के लिये हानिकारक होते हैं और प्राय: खड़ी फसलों को लूटते हैं । सड़कों पर यात्रियों को लूटते एवं डकैती डालते हैं । इनके लड़के पहले क्षेत्र में डकैती करने के लिये प्रशिक्षित किये जाते हैं बाद में ये सेंधमारी करने के लिये लगाये जाते हैं । क्षेत्र में जब डकैती करने के लिये जाते हैं तो इनकी संख्या 20 से कम नहीं होती और सेंधमारी के लिये 8 या 9 एक साथ होते हैं । वे सोटा को छोड़कर कोई हथियार नहीं लेकर चलते । वे कभी-कभी हिंसा का प्रयोग भी करते हैं[2] ।

सांसिया जनजाति बहुत साहसी, दृढ़ी, अपराधी होते हैं । उनका उपरी दोआब में जीवकोपार्जन के लिये डकैती, राहजनी, चोरी के अलावा और कोई भी साधन नहीं है । अपने अभियान के दौरान ये हमेशा हिंसा, शारीरिक जुल्म, यहाँ तक की जान से मार देने जैसी हरकत करते हैं । [illegible] के दौरान ये पत्थर फेंककर यात्रियों या मोटर चालकों पर आक्रमण करते हैं । यदि आक्रमण में असफल होते हैं तो ये सोटे से पीटकर यात्रियों को लूट लेते हैं । दूसरी युक्ति में कान्सटेबिल बनकर यात्रियों को लूटते हैं । ये सरायों में नहीं रुकते ये गाँव के बाहर बंजारे के रूप में बढ़िया वस्त्र पहन कर रुकते हैं । अलीगढ़ में ये 7 गैंगों में विभक्त हैं जिसमें 5 की नेता औरतें एवं दो के आदमी हैं । इसके पीछे कारण यह है कि आदमी प्राय: जेल में बन्द हो जाते हैं उस स्थिति में औरतें ही नेतृत्व संभालती हैं[3] ।

---

1• कुक, डब्ल्यू0 1896, पूर्वोक्त, वाल्यूम I, कलकत्ता, पृ0 247 ।

2• कुक, डब्ल्यू0, 1896, वही, वाल्यूम II , पृ0 479 -

3• कुक, डब्ल्यू, 1896, वही, वाल्यूम IV , पृ0 84 ।

**आपराधिक प्रवृत्ति :-**

ब्रिटिश सरकार के आने से पहले ये लोग अपने मामलों में काफी हद तक स्वतन्त्र थे। 18वीं शदी में मुगल साम्राज्य के पतन के समय साधारणतया कानून व्यवस्था की स्थिति खराब थी। गंगा के ठग, पिन्डारी और अन्य दूसरे अपराधी स्वतन्त्र रूप से घूमते एवं यात्रियों तथा व्यापारियों को लूटते थे। जब ब्रिटिश साम्राज्य स्थापित हुआ तो कई अभियान के द्वारा इनको दबाया गया। इस प्रक्रिया के दौरान 1871 में सरकार ने अपराधी जनजाति कानून पास किया। इस कानून के तहत सरकार किसी जनजाति या समूह को साक्ष्य के आधार पर अपराधी घोषित कर सकती थी। इन [illegible] को स्थायी रूप से बसाने का भी प्रयास किया गया। इस कानून को कई बार संशोधित (1897, 1911, 1923, 1924) किया गया ताकि इसको अधिक [illegible] बनाया जाय। इस कानून के तहत [illegible] प्रावधान थे।

(1) स्थानीय सरकार अपराधी जनजाति को बिना उनके स्थायी निवास या रहन-सहन की व्यवस्था किये अपराधी घोषित कर सकती थी।

(2) जनजाति के सदस्यों का पंजीकरण एवं उनकी अंगुलियों का निशान लेना ताकि उनका परीक्षण एवं निरीक्षण किया जा सके।

(3) अपराधी व्यक्ति से उसके बच्चों में सुधार लाने के लिये उसे अलग कर देना।

(4) अति अपराधी प्रवृत्ति वाले [illegible] को विशेष स्थान में जाने से मना करना एवं उनके रहने के लिये अलग से व्यवस्था करना।

इस कानून के तहत पूरे देश में 115 समुदाय अपराधी जनजाति के रूप में घोषित किये गये। इस नीति के अन्तर्गत ब्रिटिश सरकार ने अपराधियों के स्थायी

निवास के लिये व्यवस्था की । इन लोगों पर कड़ी नजर रखी जाती थी । यह नीति अपराधी समूहों को सुधारने में काफी कारगर सिद्ध हुयी ।

भारतीय सरकार ने स्वतन्त्रता के तुरन्त पश्चात् 1947 में सोचा कि किसी पूरे समुदाय को अपराधी घोषित करना अनुचित है जबकि अपराध उनमें से कुछ ही करते हैं । तदनुरूप 1949 में सरकार ने एक समिति का गठन किया जिसको 1924 के कानून की जाँच पड़ताल करके उसमें सुधार करने के लिये कहा गया । 'अपराधिक जनजाति कानून जाँच समिति' ने अपने प्रलेख में कानून में परिवर्तन की सिफारिश की । भारतीय संसद ने अपराधी जनजाति कानून {संशोधित} 1952 पास किया । इस कानून के द्वारा सभी अपराधी जनजाति को दोषमुक्त घोषित किया गया ।

भारतीय संविधान जो कि 1950 से प्रभावी हुआ उसमें अछूतों के [illegible] के लिये विशेष प्राविधान किये गये । ये जातियाँ हरिजन { जनजाति } एवं जनजाति के रूप में निरूपित की गयी । राष्ट्रपति के आदेशानुसार उनके नाम सर्वप्रथम 1950 में घोषित किये गये । पुनः कई अवसरों पर संशोधित किये गये । अहेरिया, बंदी और गंधीला को छोड़कर उनमें से अन्य जातियाँ सिड्यूल कास्ट घोषित की गयी । 1951 की जनगणना से इन समुदायों की गणना जाति के आधार पर करना बन्द कर दिया गया । जबकि सि[illegible] कास्ट एवं ट्राइब्स की गणना अलग-अलग की जाने लगी ।

विकसित समाज के साथ अन्तर्क्रिया :-

कोई ऐसा ऐतिहासिक साक्ष्य नहीं है जिससे पता चले कि यह शिकारी - पजीवी समूह, पिछले तीन हजार वर्षों या इससे ज्यादा समय से गंगा के मैदानी

भागों में प्रवेश किया । दूसरी तरफ, संस्कृत साहित्य में पर्याप्त संदर्भ मिलता है जिससे पता चलता है कि आर्य लोग जब मैदानी भागों में बसना शुरू किये तो, काले चेहरे, चपटी नाक वाले जिसे दास या दस्यु पुकारा जाता था, थे ।

दूसरी तरफ, दक्षिण के मैदानी भाग की जनसंख्या, मध्यपाषाण काल की जनसंख्या के बाद की थी । 2,000 बी0 सी0 में कृषि-आधारित समाज की शुरूआत हुई औ 1,000 बी0 सी0 में लोहे की खोज से उनके द्वारा मैदानी भागों में बस्तियाँ बसाई गई, आर्थिक एवं राजनैतिक रूप से प्रभावी आर्यन समाज ब्राह्मणों द्वारा बनाई गई, जो आज के हिन्दू धर्म के अग्रगामी थे । 1,000 बी0 सी0 के मध्य से समाज जातिगत आधार पर संगठित होने लगी । यह व्यवस्था राजतंत्रीय थी, इसमें हर समुदाय का स्थान, उनके व्यवसाय, खान-पान, राजनैतिक शक्ति,, और ब्राह्मण संस्कारों के पालन करने की क्षमता, निश्चित होने लगा । कोई भी सामाजिक समूह जो आर्थिक या राजनैतिक अर्न्तक्रिया आर्यों के साथ किया वह जाति व्यवस्था से अप्रभावित न हुआ हो ।

शिकारापजीवि गंगा मैदान में रहते हुये आर्यों के गाँवों एवं कस्बों में उनके पर्यावरण के भागीदार बने । आर्थिक, तकनीकी और राजनैतिक रूप से आर्यों से कमजोर होकर ये बाद में अलग हो गये । इनका श्रम कृषि कार्य को बढ़ाने एवं स्थाई निवास करने में था, और उनके परम्परागत उद्योग तथा रस्सी बनाना, बुनाई इत्यादि कृषि औजार के लिए किया जा सकता था । इस प्रकार

बहुत से व्यक्ति आर्य समाज में निचली श्रेणी में आ गये । राजतंत्रीय व्यवस्था में उनका स्थान उनकी योग्यता पर निर्भर करता था । वे लोग जो हमेशा जंगलों में रहे वे अपनी आर्थिक,सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक स्वतंत्रता बनाये रखे । लेकिन जैसे-जैसे जनसंख्या बढ़ी, जंगल साफ हुए, शिकारोपजीवियों के रहने का स्थान घटा और उनमें से बहुत आर्यों से प्रभावित समाज के सम्पर्क में आये । यह स्थिति 19वीं शदी तक बनी रही जब कि ब्रिटिश आकर गंगा मैदान को विजित किये ।

इस धीमी गति से आर्यों एवं घुमक्कड़ों की जनसंख्या के संपर्क से वे सामाजिक एवं धार्मिक गतिविधि से प्रभावित हुए । यही हम उनकी संस्थाओं का परीक्षण करने पर पाते हैं ।

शिकारोपजीवियों का धार्मिक एवं सामाजिक विश्वास और व्यवहार भिन्न था । जबकि वे इनके अलावा कुछ हिन्दू देवी-देवताओं एवं पूजाविधियों को अपनाये । इससे भी ज्यादा, वे अपनी जनजाति की पहचान पाने के बावजूद जातिगत दार्शनिकता से अलग नहीं रह सके । वे अनमने ढंग से ही सही, अपने को उच्च हिन्दू जातियों से नीचे का मानने लगे, और हिन्दू प्रवृत्ति को अन्य जातियों के साथ मानने लगे । दूसरी तरफ, शिकारोपजीवी की एक बड़ी संख्या अपने को जातिगत व्यवस्था में पूरी तरह समाविष्ट करके अपनी पहचान खो दिये । हिन्दू समाज, बदले में, इन शिकारोपजीवियों के कुछ धार्मिक विश्वासों को अपने में समाहित कर लिया । हम इन परिवर्तनों को निम्नलिखित विवेचन में उद्धृत करेंगे ।

स्वदेशी लोगों [मूल निवासी] का धर्म जातीय आधार पर था जो पूर्वज पूजा एवं क्षेत्रीय देवी-देवताओं पर केन्द्रित था । नेशफील्ड, कंजरों के धर्म के बारे में कहते हैं कि बिना मूर्ति, बिना मंदिर और बिना पुजारी के सच्चे अर्थों में धर्म को मानते थे । मूल निवासी अनेक अंधविश्वासों को पालते हैं, इनका विश्वास है कि जब आत्मा निकलती है तो जीवित मनुष्यों के शरीर में घुस जाती है एवं उनके बुरे कार्यों के लिये दंडित करती है । आत्मा अपने दफनाने से मना करती है और तमाम तरह के रोग पैदा करती है । वे अपने पूर्वजों एवं अन्य देवताओं का समय-समय पर पशु बलि देकर आह्वान करते हैं ताकि वे आकर चोट, बीमारी एवं मृत्यु से रक्षा करें ।[1]

बधिकों, बवारिया एवं भादुओं का विशेष देवता, देवी काली है, जिन्हें वे बकरे की बलि देते हैं । अहरिया एवं सासिया देवी [देवीयां] की पूजा करते हैं । बेरिया की देवियां देवी, काली और ज्वालामुखी हैं । बिजनौर में बेरिया लोग प्राय: काली भवानी की पूजा करते हैं । मथुरा में उनकी क्षेत्रीय देवी, केसा देवी हैं, जिसके लिये विशेष अवसरों पर वे भैंसे या बकरे की बलि देते हैं । कंजर लोग कम से कम तीन देवियों की पूजा करते हैं । अहरियों में माता, वेवक माता, और मसानी [श्मशान की आत्मा] की पूजा करते हैं ।

इन समुदायों के कुछ और भी देवता हैं । बहेलिया के वंश [कुल] देवता पूर्वी जिलों में कालूबीर और परिहार हैं । कालूबीर के लिये एक मुर्गी की बलि दी जाती है एवं शराब जमीन पर डालते हैं । परिहार चिड़िये की बलि एवं

---

1. [illegible], जान० सी०, 1883, वही ।

रोटी पसंद करते हैं । अवध में एक बकरा काले देव के नाम पर बलि दिया जाता है । कंजरों का मुख्य देवता' माना' है । उसकी पूजा सुअर या बकरा या भेड़ चिड़िया एवं भूना हुआ मांस एवं शराब से की जाती है । अहेरियों के जनजातीय देवता' मेषा सुर' है और वे लोग अपने घरों के एक कमरे में रखकर पूजा करते हैं ।

ये लोग अपने देवताओं की पूजा करने के साथ, हिन्दुओं के कुछ देवी, देवताओं जैसे पशु, पौधे एवं नदी, जो उनके {हिन्दू} लिये पवित्र हैं, की पूजा करने लगे हैं । वे हिन्दुओं के कुछ त्यौहारों को भी अपना लिए हैं । इस प्रकार गंधीला एवं हबूरा परमेश्वर की पूजा करते हैं, वे हिन्दुओं के उच्च देवता हैं । सांसिया लोगों के, भगवान या परमेश्वर या नरायन महान देवता हैं । हिन्दुओं की तरह बहेलिये भी गंगाजी को पवित्र मानते एवं उनकी{गंगाजी} कसम खाते हैं । बेरिया लोग मरणोपरान्त गंगाजी में स्नान करते हैं । जब वे कसम लेते हैं तो गंगा जी की तरफ मुंह करके उनकी कसम खाते हैं । भांटू लोग भी पीपल, वृक्ष, तुलसी एवं सूर्य को जल चढ़ाते हैं । अहेरिया लोग पीपल के साथ-साथ साल के ग्यारहवें महीने के मध्य फाल्गुन में आंवले के पेड़ की पूजा करते हैं । नागपंचमी के अवसर पर उनकी औरतें मकानोंकी दिवालों पर सर्पों का चित्र बनाकर उस पर दूध छिड़कती हैं । आदमी लोग जंगलों में दूध ले जाकर सर्पों के बिलों में डालते हैं । वे लोग मुख्य कसम गंगाजी के नाम पर या पीपल के पेड़ के नीचे या पीपल की एक पत्ती हाथ में लेकर खाते हैं । बेरिया लोग साधारणतया होली, दिवाली

एवं दशहरा की छुट्टियाँ मनाते हैं । अहेरियों के बहुत से त्योहार हिन्दुओं से मिलते जुलते हैं । उनमें से कुछ ब्राह्मणों (पुजारियों) की तरह संस्कार एवं कर्मकांड करने लगे हैं । बेहेलियों में साधारण गाँव का ब्राह्मण घरेलू संस्कारों को पूरा कराता है । सभी हबूरा जनजाति अपने को हिन्दू मानते हैं परन्तु वे ब्राह्मणों से बहुत कम या कोई भी सेवा नहीं लेते । जो निचले स्तर के ब्राह्मण होते हैं वे केवल बेरियों की शादी के समय संस्कारों को कराते हैं । अहेरियों की शादी ब्राह्मण एवं नाई द्वारा व्यवस्थित की जाती थी ।

मुस्लिमों के सम्पर्क में आने के कारण ये लोग कई मुस्लिम सन्तों की पूजा को अपनाया । इस प्रकार अलीगढ़ के पास बावरिया लोग जहीर दिवान एवं अहेरिया लोग पीर मस्जिद के पंच की पूजा करते हैं । मस्जिदों का चढ़ावा मुस्लिम लोग लेते हैं । अहेरिया लोग मियाँ साहब एवं जखिया की भी पूजा करते हैं । बेरिया के बहुत से लोग सैयदों को हजरत मुहम्मद का रूप मानकर उनकी पूजा करते हैं । सांसिया लोग गाजी मियाँ में विश्वास करते हे जो अमरोहा एवं जलेसर के सन्त थे । बेरिया लोग हिन्दू या मुसलमान जनसंख्या के आधार पर बनते हैं । उनमें से कुछ कबीर पंथी या सिख, कुछ अपने को जोगी, फकीर के रूप में परिवर्तित कर लेते हैं ।

यहाँ तक कि, जबकि ये पूरी तरह हिन्दू समाज की जातिगत आधार को नहीं पहुँच पाये हैं फिर भी ये मूल निवासी आपस में भी खान-पान के समय जाति का ध्यान रखतें हैं और अपने तौर-तरीके अपनाते हैं । इस प्रकार बहेलिया लोग, भंगी, डोम और धोबी को नहीं छुयेगा । अहेरिया लोग कच्च खाना केवल अहीर, बरे, जाट एवं कहारों के यहाँ और पक्का खाना नाईयों के यहाँ खाते हैं । दूसरी जातियाँ गंधीला के साथ भोजन नहीं करते, लेकिन उनमें से कुछ कंजर, सांसिया और

इसी तरह के अन्य घुमक्कड़ों के यहाँ भोजन करते हैं। सासिया लोगों में जो स्थाई निवास करने लगे हैं, वे कच्चा भोजन केवल ऊँची जातियों के यहाँ खाने का दावा करते हैं। अलीगढ़ में हबूरा लोग, चमार, धोबी, भंगी एवं कलवार के यहाँ भोजन नहीं करेंगे। बिजनौर में ये लोग केवल चमार, भंगी, कंजर, सासिया और इस तरह के लोगों के अलावा सभी हिन्दुओं के हाथ से पानी पीते हैं। बिजनौर, मथुरा एवं अन्य स्थानों पर वे लोग केवल ऊँची जातियों के यहाँ भोजन करेंगे[6]। हबूरा लोग जो अब स्थाई रूप से बस कर कृषि कार्य करते हुये सम्मानजनक स्थिति को प्राप्त कर चुके हैं वे अपने घुमक्कड़ प्रवृत्ति एवं रीति-रिवाजों को छोड़ रहे हैं। जैसे-जैसे ये सभ्य होते जा रहे हैं अपने को राजपूतों से जोड़ते जा रहे हैं। एटा जिले से ऐसी खबर मिलती है कि जनजाति का कोई सदस्य अब चोरी या अनैतिक कार्य करता है तो उसे कुछ समय के लिये बाहर कर दिया जाता है और जब तक वह अपने शरीर से खून-विशेष रूप से नाक से नहीं निकालता समाज में वापस नहीं लौटता है।

हिन्दुत्व का सबसे ज्यादा प्रभाव इनके दाह-संस्कार व्यवस्था पर पड़ा है। ये परम्परागत रूप से शवों को जमीन में गाड़ देते या खुला छोड़ देते या जल प्रवाह करते थे परन्तु हिन्दुओं के प्रभाव से ये शवों को जलाते हैं। बहेलियों में शव को जलाया जाता है। बावरिया लोग प्रौढ़ लोगों को जलाते हैं, एवं अविवाहितों को जमीन में दफनाते हैं। अहेरियों में धनी लोग शव को जलाते हैं

परन्तु गरीब लोग दफनाते या नदी में प्रवाह करते हैं । शवदाह के बाद अक्सर राख गंगाजी में बहा दिया जाता है लेकिन कुछ लोग उसे (राख) चिता पर ही छोड़ देते हैं ।

बेरिया एवं हबूरा लोग दफनाने एवं शवदाह की बीच की स्थिति में हैं । फर्रुखाबाद के बेरिया लोग शव के बायें पैर को आग से छूकर दफना देते हैं । इटावा में लाश जलाकर उसी राख को मिट्टी के मटके में रखकर जमीन में गाड़ देते हैं एवं उसके ऊपर एक मिट्टी का प्लेटफार्म बना देते हैं । मथुरा में हबूरा लोग या तो शव को जला देते हैं या जमुना जी में फेंक देते हैं । बिजनौर में ये लोग शव को या तो दफनाते हैं या जंगल में फेंक देते हैं । अलीगढ़ में सम्पन्न रहने पर ये लोग शव-दाह करते हैं । ऐटा में जब कोई व्यक्ति घर में मरता है तो उसे जलाकर उसकी हड्डियों को लाकर उसके रहने के स्थान के पास गाड़ दिया जाता है ।

वास्तविक घुमक्कड़ सासिया लोग प्रायः शवों को जंगल में फेंक देते हैं । अलीगढ़ में (चन्दूवाला) सासिया लोग शव-दाह करते हैं अन्य दूसरे दफनाते हैं । मिर्जापुर में वे दफनाते हैं । भाटू सभी गोत्रों के लोग केवल ढोलिया को छोड़कर, शवों को जलाते हैं ।

जाति व्यवस्था में समीकरण :-

हजारों वर्षों के उपरान्त, इन शिकारोपजीवी जनजातियों की एक बड़ी संख्या हिन्दू समाज में समाहित हो गयी । परन्तु अपने आर्थिक स्थिति, खान-पान, [illegible] ब्राह्मणों के संस्कारों की अज्ञानता एवं राजनैतिक

व्यक्ति की कमी के कारण, ये हिन्दू समाज में निचले स्तर का ही स्थान पाये हैं। अहेरिया के संदर्भ में, उदाहरण स्वरूप, सर एच0 एम0 इलियट कहते हैं कि ये लोग धानुकों की ही शाखा से हैं परन्तु शव को नहीं खाने के कारण ये धानुक से अलग हैं। धानुक हिन्दुओं में अछूत हैं जो पूर्णतया स्थायी रूप से बस चुके हैं। धानुक लोग अपने सुअरों के साथ गाँवों के किनारे बसते हैं। इन समुदायों में जो घृणित भोजन को कम से कम इस्तेमाल करते हैं एवं हस्त उद्योग में कुशल होते हैं उन्हें हिन्दू समाज में अपेक्षाकृत ऊँचा स्थान प्राप्त होता था। इसी तरह से गंगा के मैदानी भाग में कलाकार, सेवक एवं अछूत जातियों की व्याख्या की जा सकती है।

बहुत से कारीगरी या उद्योगों में कंजरों को आसानी से पहचाना जा सकता है, उनमें से कुछ अपने पैतृक कार्यों को करते हैं और बहेलिया, बारी, बेहना, चमार, धरकार, कोरी, कलवार और अन्य छोटी जातियों के रूप में पुकारे जाते हैं। इसतरह हम निष्कर्ष निकालते हैं कि घुमक्कड़ एवं लुटेरी जन-जातियाँ, जो किसी समय ऊपरी गंगा में शास्वत रूप से थी, लेकिन अब उनका कुछ भाग ही रह गया है, अपने कार्यों में धीरे-धीरे परिवर्तन कर रहे हैं।

मध्य सोन घाटी में वर्तमान आदिम जातियों के संरचनाओं के आधार पर पुरातात्विक संरचनाओं की व्याख्या हुई है। इसी प्रकार का अध्ययन मध्य गंगा के मैदान में भी किया जायगा। शिकारोपजीवी समुदाय गंगा घाटी में मध्य पाषाण काल {8,000 बी0सी0} से रह रही हैं। दूसरी

शहस्त्राब्दि {2,000 बी०सी०}से कृषि-आर्थिक स्थिति की शुरूआत से धीरे-धीरे गाँव एवं शहर बसने लगे। परिणाम स्वरूप इन शिकारोपजीवियों में परिवर्तन आया। तब से वे लोग किसानों, ग्रामीणों व्यापारी समुदायों के सम्पर्क में आये और क्रय-विनिमय एवं बाजार-व्यवसाय में हिस्सा लिये। इनके सामाजिक वातावरण में आये परिवर्तनों के कारण अपने उद्योग से गाँवों एवं शहरों तक सामान पहुँचाने लगे। इन सामानों में, शहद, जंगली जानवरों का मांस जंगली उत्पाद, ढोल के लिये चमड़े, टोकरी, तिनके के पंखे, ताड़ के पंखे, रस्सी, जुलाहों के लिय ब्रश, चटाई, दोनों एवं पतरी, खसखस घास, सूती धागे, आटा पीसने की चक्की, मुख्य था। वे कुछ तरह की औषधि, जड़ी-बूटी, इत्र, एवं भैंसे एवं ऊँट की हड्डियाँ भी उपलब्ध कराते थे। कुछ समूह जैसे बहेरिया, बहेलिया, सासिया और हबूरा, व्यावसायिक रूप से चोर हो गये जबकि वे अपने परम्परागत कार्यों को भी करते रहे।

आर्थिक अन्तर्क्रिया-हिन्दू समाज के साथ करने पर प्राकृतिक रूप से जाति व्यवस्था के प्रभाव में आये। इन समुदायों का कुछ भाग पूर्णतया राजतंत्रीय व्यवस्था में मिलकर समाज में ऊँचा स्थान प्राप्त कर वे अपने जीवन शैली, विशेषकर खान-पान में परिवर्तन कर लिए। अन्य दूसरे जो परम्परागत तौर-तरीके अपनाये वे हिन्दू समाज में निचले स्तर पर रह गये। स्वतंत्रता के बाद एक बड़ा समूह अपने सामाजिक आर्थिक स्तर में वृद्धि कर चुका है। अब वे अपने पूर्वजों का संबंध किसी हिन्दू महान से जोड़कर जातिगत ऊँचाई को प्राप्त

करना चाहते हैं । सरकार द्वारा इनको सिड्यूल कास्ट घोषित करने से उनके इस प्रयास में बाधा पहुँच रही है जबकि इससे इन लोगों को शैक्षिक एवं राजगा में वरीयता मिल रही है ।

जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है गंगा के मैदान क्षेत्र के आदिम जातियों के नृपुरातात्त्विक अध्ययन का प्रयास डा० मालती नागर और प्रो० वी०एन० मिश्र ने किया है । भारत के अन्य क्षेत्रों में भी इस प्रकार के अध्ययन हुये हैं और हो रहे हैं जिनके क्रिया-कलापों और सामाजिक सांस्कृतिक तथा आर्थिक स्थितियाँ पुरातत्व को समझने में सहायक हैं । क्यों कि उनकी अर्थ व्यवस्था, आखेट और संग्रह पर आधारित है इस लिए उनके परिणाम भी हमारे इस अध्ययन में सहायक हैं । ऐसे विद्वानों में डा० एम०एल०के० मूर्ती[1], डा० मालती नागर[2], डा० पीटर फैंसिस[3], डा० के०जे० जान[4], डा० वी०एन० मिश्र[5] आदि का उल्लेख किया जा सकता है ।

---

1• मूर्ती, एम०एल०के०, 1997, इथनोग्राफिक एनालोग्स एण्ड आर्क्यालोजिकल पेटर्नस आफ सबसिस्टेंस विहेवियर: ए प्रिडिक्टिव माडेल फार दि साउथ ईस्ट कोस्ट आफ इण्डिया, इण्डियन प्रीहिस्ट्री, 1980 (सम्पादक वी०डी० मिश्र एवं जे०एन० पाल, पृ० 203-205; मूर्ती, एम०एल०के०, 1985, दि यूज आफ प्लान्ट फूड्स वाई सम हन्टर गेदरर कम्युनिटीज इन आंध्र प्रदेश, रिसेंट एडवान्सेज इन इण्डो-पैसिफिक प्रीहिस्ट्री, सम्पादक वी०एन०मिश्र एवं पीटर बेलवुड, पृ० 329-336 ।

2• नागर, मालती, 1997, फिशिंग एण्ड फिशिंग गियर एमंग दि ट्राइबल कम्युनिटीज आफ बस्तर एण्ड देयर इम्पलीकेशंस फार आर्क्यालजी, इण्डिया प्री-हिस्ट्री, 1980 (सम्पादक वी०डी० मिश्र० एवं जे०एन० पाल), पृ० 210-217; नागर, मालती, 1985, दि यूज आफ वाइल्ड प्लांट फूड्स वाई ए वोरिजिनल कम्यूनिटीज इन सैंट्रल इण्डिया, इण्डो पैसिफिक प्रीहिस्ट्री, सम्पादक वी०एन० मिश्र एवं पीटर बेलवुड, पृ० 337-342 ।

3• फैंसिस, पीटर, 1997, एन इन्टर डिस्पलीनरी एप्रोच टू द क्वेशचन आफ अर्ली ह्यूमन एडोर्नमेन्ट इन इण्डिया, इण्डिया प्रीहिस्ट्री, 1980 (सम्पादक वी०डी०मिश्र एवं जे० एन० पाल, पृ० 218-231 ।

4• जान, के०जे०, 1997, इथनोआर्क्यालजी एण्ड नोमेडिक पस्टोरलिज्म आन द वेस्टर्न कास्ट, इण्डिया प्रीहिस्ट्री : 1980 (सम्पादक वी०डी०मिश्र, एवं जे०एन० पाल, पृ० 206-209 ।

5• मिश्र० वी०एन०, 1990, दि वान वागरिस - लास्ट हन्टर्स आफ दि थार डिजर्ट, राजस्थान, मैन एण्ड इनवाइरनमेंट, वाल्यू० XV(2) पृ० 89 - 108 ।

वर्तमान में जनपद सुलतानपुर के कतिपय क्षेत्रों में आदिम जातियों के सम्बन्ध में कुछ सूचनायें इस शोधकर्ता द्वारा एकत्र की गयी है जिसकी रूपरेखा निम्न प्रकार प्रस्तुत की जा सकती है ।

सुलतानपुर से हलियापुर रोड पर 25 कि0मी0 दूरी पर स्थित पारा चौराहे से आधा कि0 मी0 पूर्व की तरफ ग्राम आलियाबाद एवं सहजौरा में कंकाली एवं मंगता लोगों का डेरा था । ये लोग झोपड़ी में रहने वाले हैं, उनके विषय में जानकारी एकत्रित की गयी है । इन्हीं कंकाली एवं मंगता को नट भी कहा जाता है । ये लोग जंगली जानवरों का शिकार करते हैं तथा उससे अपनी जीविका का निर्वाह करते हैं । सांप एवं गोहटा जैसे जंगली जानवरों को पकड़ते हैं । चोगड़ा [खरगोश], चुन्हीयारी [बिल्ली की छोटी जाति] जो कि वृक्षों के खोखलों में या जमीन के अन्दर बिल में रहते हैं, उसका शिकार लाठी से करते हैं । ये सांप के दांत को तोड़ देते हैं तथा विकसित समाज के समक्ष उन्हें दिखाकर भिक्षा एकत्र करते हैं [प्लेट क्रमांक-1 एवं 2 ] बिच्छोपड़ा एवं गोहटा [जहरीले जानवर] को मारकर उसकी खाल को बेचते हैं । ये जंगलों से शहद निकालने में भी प्रवीण होते हैं । धीरे-धीरे अब ये विकसित समाज के साथ अन्तर्क्रिया में संलग्न प्रतीत होते हैं तथा कृषि कार्य भी प्रारम्भ कर दिये हैं । खाद्य सामग्री के अन्तर्गत सब कुछ खाते-पीते हैं । भैंसा, बकरा जैसे छोटे-बड़े सभी जानवरों का गोश्त कच्चा अथवा पका सब खा जाते हैं । मजदूरी करके भी अपनी जीविका का निर्वाह करते हैं । ये कुत्ता, गाय, सांप, भैंस, भैंसा, मुर्गा, मुर्गी पालते हैं । बरसात के महीने में ये बाहर चले जाते हैं बसंत तक वापस आते हैं । बाहर ये जानवरों को खिलाने पिलाने तथा अपने खाने-पीने की व्यवस्था भिक्षाटन द्वारा करते हैं ।

जनजातीय जीवन का सांस्कृतिक पक्ष इनके धार्मिक विश्वास पर आधारित रहता है । ये हिन्दू-मुस्लिम दोनों धर्म मानते हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि इन धर्मों के प्रभाव के फलस्वरूप अपने धर्म के प्रति इनकी श्रद्धा पहले के समान नहीं रह गयी है । अब ये ताजिया, होली, दीपावली सब मनाते हैं और सभी धार्मिक अवसरों पर मांग कर खाते पीते हैं । कुंकाली मुख्यत: मुसलिम धर्म अपनाये हुये हैं । शादी विवाह तथा अन्य रीति-रिवाज मुस्लिम धर्म से मिलता-जुलता है । मंगता मुख्यत: हिन्दू धर्म मानते हैं किन्तु मूर्ति पूजा में विश्वास बिलकुल नहीं करते हैं । ये अपने को ज्यादा पवित्र मानते हैं । अयोध्या, इलाहाबाद स्नान करने भी जाते हैं । इनका दर्शन आदि करने की अपेक्षा घूमने का शौक अधिक रहता है । ये पैसा देकर लड़की खरीदते हैं । पैसे से जो लड़की क्रय करके लाते हैं यदि उनकी शादी की परम्परा नहीं सम्पन्न होती है तो उनसे उत्पन्न बच्चों की भी शादी नहीं हो सकती है । उनके पहले माँ-बाप की शादी होनी आवश्यक है । जब से मंगता कुश्ती लड़ना, लड़ाना शुरू किये तब से ये नट कहे जाने लगे । विवाह के समय नगाड़ा आदि बजाते हैं तथा खूब नाचते गाते हैं । अनेक उत्सव भी मनाते हैं । विवाह के पूर्व ये माता-पिता से [illegible] रहते हैं । विवाहोपरान्त अलग कमाने खाने लगते हैं ।

निवास के लिये शिरकी की झोपड़ी बनाते हैं । सड़क के दोनों तरफ बाग में ये झोपड़ी बनाकर रहते हैं (प्लेट क्रमांक - 3 ) । ये झोपड़ी फोल्डिंग टाइप की होती है, उसे जब चाहे समेट लेते हैं, जब चाहे तान देते हैं । धीरे-धीरे ये कच्चे मकान भी बनाना शुरू कर दिये हैं । अतिरिक्त धन से ये गहना भी बनवाते हैं ।

गहदाला एवं वेल्चा इनका प्रमुख औजार है (प्लेट क्रमांक - 4 ) । उसी से सांप को बिल से खोदकर निकालते हैं । ये अत्यन्त निडर होते हैं । ये अपने कला-कौशल से ही सांप आदि पकड़ते हैं । जड़ी-बूटी आदि का भी प्रयोग करते हैं । उससे धन भी उपार्जित करते हैं । शिकारी मंगते निम्न प्रकार शिकार करते हैं । दो मंगते एक साथ विछखोपड़ा को देखकर पेड़ पर त्वरित गति से चढ़ते हैं । एक मंगता वृक्ष के बहुत ऊपर तक चढ़ जाता है पेड़ की टहनियों को झकझोरता है, दूसरा जो नीचे रहता है उसे झपटकर लपकता है । हाथ से तुरन्त मरोड़कर नीचे गिरा देता है । हाथ की तेजी अत्यन्त महत्वपूर्ण है ये विछखोपड़े वृक्ष के बिलों या बांस की कोठी में रहते हैं जिसे ये खोज निकालते हैं । ये शाही भी खोदकर निकालते हैं ।

नट जाति के एक साठ वर्षीय मट्ठा नामक व्यक्ति से पूछ-ताछ करने पर कतिपय जानकारियां प्राप्त हुई ( प्लेट क्रमांक - 5 ) । शादी विवाह एवं रीति-रिवाज के सम्बन्ध में हिन्दुओं की पद्धति अपनाये जाने की बात बतायी । बेड़िया के सम्बन्ध में बहन-बेटियों के नचाने के सम्बन्ध में अवगत कराया । दहेज पद्धति का प्रचलन बिल्कुल नहीं है । शवाधान क्रिया के अन्तर्गत सीने के बराबर गड्ढा खोदकर शव को गाड़ दिया जाता है । निवास स्थान के बगल में ही कब्रिस्तान है । मुर्गी, तीतर, बकरा, भैंस, कुत्ता, आदि पालते हैं । गाय, बैल का मांस नहीं खाते हैं । गाय को पवित्र मानते हैं । सुअर के नाम पर चिढ़ जाते हैं । यहाँ तक कि यदि सुअर बर्तन छू दे तो उसे फेंक देते हैं । भिक्षाटन के लिये ये 2-3 कोस तक मांगने जाते हैं । पहले ये चुटिया भी रखते थे किन्तु धीरे-धीरे अब ये परम्परा समाप्त होती जा रही है । राम-राम भी

करते हैं । चाँदी के गहना आदि का भी उपयोग करते हैं । गहना स्थायी सम्पत्ति के रूप में रखते हैं । बर्तनों में अल्युमिनियम, ताँबा, काँसा का प्रयोग ज्यादा करते हैं । मट्ठा एवं उसका परिवार अत्यन्त खुले विचार के दिखाई दिये । ये अपना मकान सर्वदा खुला रखते हैं । झोपड़ी के ऊपर छप्पर रखते हैं । चूल्हा आदि घर के सामने बनाते हैं {प्लेट क्रमांक - 6 } । झोपड़ी में एक - एक कमरे होते हैं । वे एक मकान के बराबर होते हैं । वे एक क्रमबद्ध या पंक्तिबद्ध ढंग से व्यवस्थित होते हैं । छप्पर, बाँस या सरपत से निर्मित करते हैं । इनके गृहों में दैनिक व्यवहार में आने वाले सामान रहते हैं । जैसे वेल्वा गहदाला, कुल्हाड़ी, लाठी आदि । पूर्व में मिट्टी के बर्तनों में खाना बनाते थे किन्तु अब अधिकांशतः एलुमिनियम का प्रयोग करते हैं । सोने के लिये घर में बनाई गई चटाई तथा खाट का व्यवहार करते हैं । ये पेड़ों के नीचे खुले में रहना अधिक पसन्द करते हैं {प्लेट क्रमांक - 7 एवं 8 } ।

सुलतानपुर से हलियापुर रोड पर स्थित सैनी से 1½ किलोमीटर उत्तर डीह {बदरी अहिर का पुरवा} ग्राम स्थित है । यह क्षेत्र भी आदिम जातीय क्षेत्र प्रतीत होता है । यहाँ पर वनमानुस अथवा मुसहर जनजाति के बारे में जानकारी एकत्रित की गयी । मुकदेर नामक व्यक्ति तथा उसकी पत्नी सीतापति से विस्तृत जानकारी प्राप्त की गयी ।

मुसहरों { वनमानुस } का मुख्य पेशा दोना-पत्तल बनाना था { प्लेट क्रमांक - 9 } जो कि बाजार में बेचकर अपनी जीविका चलाते थे । इसके अलावा जंगलों से मधु निकालकर उसे भी बेचते हैं । ये अपने को वनराज भी कहते हैं । वर्तमान समय में ये लकड़ियाँ काटकर उसे भी बेचते हैं । शिकार में ये कछुए का शिकार करते हैं साथ ही साथ उसे खाते भी हैं । तीतर, मुर्गा - मुर्गी, बकरी,

कुत्ता आदि को झोपड़ी में पालते हैं ‖ प्लेट क्रमांक - 10 एवं 11 ‖ । तीतर एवं मुर्गा-मुर्गी को लड़ा कर मनोरंजन करते हैं ।

बिना मूर्ति के भवानी की पूजा करते हैं । नीम के पेड़ पर अगरबत्ती जलाकर उसकी पूजा करते हैं । बलि प्रथा का भी प्रचलन इन लोगों में पाया जाता है । माँ भवानी की पूजा के लिये बकरे का बलि दिया जाता है । नवरात्रि आदि में ये व्रत भी रहते हैं । शव को ये या तो गाड़ देते हैं या जला देते हैं ।

इनकी झोपड़ी घास-फूस एवं मिट्टी की बनी होती है । बाँस एवं बल्ली तथा मटके का प्रयोग भी ये खूब करते हैं । झोपड़ी में ही चूल्हा आदि बनी होती है ‖ प्लेट क्रमांक - 12 ‖ गहदाला एवं लाठी तथा बेल्वा इनके प्रमुख अस्त्र - शस्त्र हैं ‖ प्लेट क्रमांक - 13 ‖ । मछलियों को पकड़ने के लिये ये जाल का प्रयोग अथवा बाँस से निर्मित टोकरी का प्रयोग करते हैं । लड़की की शादी में दहेज प्रथा का प्रचलन है । आभूषण ये कम से कम पहनते हैं । शादी-विवाह ये अपनी जाति में ही करते हैं ।

ये रस्सी भी बनाने का कार्य करते हैं । रस्सी बनाने के लिये कई प्रकार के पौधे इन्हें जंगलों से प्राप्त हो जाते हैं । ये वृक्षों की छालों से भी रस्सी बनाते हैं । रस्सी के अलावा जंगली लकड़ियों से ओखली, ढोलक, माँदर आदि अनेक सामान बनाते हैं जिनसे इन्हें आर्थिक लाभ होता है । औरतों में गोदना गोदने का भी रिवाज प्रचलित है । भाला, गड़ासा जैसे अस्त्रों का भी प्रयोग करते हैं । मुसहर मुख्य रूप से लँगोटी तथा धोती पहनने के शौकीन होते हैं । जादू-टोना एवं ओझाई में भी ये विश्वास रखते हैं ।

जनपद सुल्तानपुर में ही सुल्तानपुर से आजमगढ़ मार्ग पर स्थि थाना मोतिगरपुर से 4 किलोतीटर दूर स्थित झिंगुरपुर वनके गाँव में लगभग 50-60 बस्ती नटों की है । कृषि कार्य हेतु खेती खलिहान इनके पास बिल्कुल नहीं है । ये शिकार, भिक्षाटन तथा कुश्ती लड़ाने के कार्य से अपनी जीविका का निर्वाह करते हैं । इस क्षेत्र में इनको उस्ताद या पहलवान सम्बोधन से भी पुकारा जाता है । मजदूरी करके भी कभी-कभी अपनी जीविका का निर्वाह करते हैं । शिकार का मुख्य हथियार लाठी या डंडा होता है जिससे ये चुन्हीयारी या चौगड़ा का शिकार करते हैं । लाठी निर्माण में भी ये निपुण हैं । शिकार पर जाते समय कुत्ते को साथ में अवश्य ले जाते हैं ﴾प्लेट क्रमांक - 13﴿ । ये मछली पकड़ने का भी कार्य करते हैं । मछली पकड़ने का जाल ये स्वयं बनाते हैं । प्रारम्भ में ये जाल सूत एवं रस्सी के बनाये जाते थे किन्तु अब ये प्लास्टिक से जाल बनाते हैं ﴾प्लेट क्रमांक - 14﴿ । जंगल से शिकार करके लौटे हुये तथा गोहर एवं चुन्हीयारी को अपने शिकार के द्वारा पकड़ कर लाते हुये दिखाई दिये ﴾प्लेट क्रमांक - 15 एवं 16 ﴿ । ये शिकार करने में अत्यन्त प्रवीण एवं निपुण होते हैं । गोह को पकड़ने के लिये ये 'साँकड़ा' दाँव लगाते हैं । तत्पश्चात उसकी पूँछ से उसे बाँधते हैं । बाँधने में नाखून विधि को प्रयोग में लाते हैं । हस्तकौशल की ही सम्पूर्ण विशेषता दिखाई देती है । ये गोह का माँस नहीं खाते हैं अपितु उसके खाल से खझड़ी आदि बाजा बनाते हैं । इसी से अपनी जीविका का निर्वाह करते हैं ।

ये अपनी झोपड़ी का निर्माण घास-फूस, बाँस, सरपत आदि से करते हैं । झोपड़ी के निर्माण में खपड़ों का भी प्रयोग करते हैं । कच्ची मिट्टी की दीवाल

बनाकर उसके उपर छप्पर रखकर घर का निर्माण करते हैं ॥प्लेट क्रमांक - 17 ॥ । ये प्राय: अपने आवासीय समस्या से परेशान रहते हैं । इनकी झोपड़ियाँ एक समूह में बनी होती हैं । घर के सामने चूल्हे आदि निर्मित होते हैं ।

मान्यताओं के आधार पर ये अपने को क्षत्रियों का वंशज मानते हैं । ये अपने ही गोत्र में शादी-विवाह करते हैं । वस्त्र वगैरह हिन्दुओं का मांगकर पहनते हैं । नट कई गोत्र में बंटे हुये हैं । इनके पूर्वजों का कोई घर वगैरह नहीं था । ये घुमन्तू जीवन व्यतीत करते थे । कहीं भी जाकर ये बस जाते एवं वहीं मांगकर खाने-पीने लगते थे । आभूषणों में जंजीर, पायल, तोड़ा, पाजेब, नथुनी, आदि प्रयोग में लाते हैं ।

इनमें शादी-विवाह जंगलों में सम्पन्न कराया जाता था । जंगल के मध्य में बांस की कईन ॥टहनी॥ गाड़कर उसी के चारों तरफ भांवर घुमाया जाता था । तत्पश्चात विवाह सम्पन्न हो जाता था । हिन्दुओं के अन्य रीति-रिवाज भी अपनाये हुये हैं । मुन्डन, तीर्थ हिन्दुओं के अन्य रीति-रिवाज, भगवान राम एवं मां काली, विन्ध्याचल देवी सब इनके आराध्य देव हैं (प्लेट क्रमांक 17 ख)। भेंड़ एवं बकरे की बलि भी दी जाती थी ।

ये पशुपालन भी करते हैं । कुत्ता, भैंस, मुर्गा, मुर्गी, बकरा, बकरी, भेंड़ आदि पालते हैं । भैंस एवं भैंसा का व्यापार भी ये प्रारम्भ कर दिये हैं ॥प्लेट क्रमांक - 18 ॥ । सूअर, एवं गधा नहीं पालते । गौ को पवित्र मानते हैं, तथा गोमांस नहीं खाते हैं ।

शिकार, खेल-कूद तथा ढोलक, खजड़ी बजाकर अपना मनोरंजन करते हैं । इन्हें तीतर एवं मुर्गे की लड़ाई भी अच्छी लगती है । शिक्षा, नाच, गाना,

मजदूरी, चोरी-डकैती के सख्त विरोधी हैं। झोपड़ी के बगल में मुर्गा एवं मुर्गी भी पालते हैं ﴾प्लेट क्रमांक - 19 ﴿। रम्भा से लकड़ी चीरने - फाड़ने, जमीन खोद कर शिकार करने तथा शहद निकालने का कार्य करते हैं। नट जाति के लोगों का एक विहंगम अवलोकन ﴾प्लेट क्रमांक - 20 ﴿ विचित्र लगता है।

शवाधान के समय ये शव को जलाते नहीं हैं अपितु दफनाते हैं। शुद्ध एवं तेरही हिन्दुओं की तरह करते हैं। गले के ऊपर तक गड्ढा खोदते हैं। शव को उत्तर-दक्षिण दिशा में रखते हैं। ऊपर से लकड़ी का पट्टा लगाते हैं तत्पश्चात् मिट्टी डालकर दफना देते हैं।

जनपद सुल्तानपुर में आजमगढ़ रोड पर स्थित कादीपुर तहसील के पास रानीपुर गाँव में बेलवासी या बाँसफोड नामक जनजाति का उल्लेख किया जा सकता है। ये अपने को मऊ जनपद के मोहमदाबाद गोहना से आये हुये बताते हैं। मुख्य रूप से इनका पेशा डलिया, डोलची, बेना, पंखा, दोरी, सुपेली, डाल, झपिया, पान्टा, ओरा आदि के निर्माण से सम्बन्धित है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये समस्त वस्तुएं बाँस से ही निर्मित करते हैं इसलिये इनका नामकरण भी बाँसफोड़ ही किया गया है। यही इनकी जीविका का प्रमुख साधन है जो कि गाँवों, बाजारों आदि में विक्रय करते हैं। धीरे-धीरे ये स्थायी जीवन भी व्यतीत करने लगे हैं। ये अपनी झोपड़ी का निर्माण घास-फूस, सरपत एवं बाँस के द्वारा निर्मित करते हैं ﴾ प्लेट क्रमांक - 21 ﴿।

इनके औजारों में बाँकी, दाब, छुरी आदि [illegible]नीय हैं ﴾प्लेट क्रमांक -22﴿ जिससे टोकरी आदि का निर्माण करते हैं। सम्पूर्ण परिवार मिलकर निर्माण कार्य करते हैं ﴾प्लेट क्रमांक - 23 एवं 24﴿ बाँस की पत्तियों से सब कुछ बनाते हैं।

शादी - विवाह रिश्तों में या निकट सम्बन्धियों में ही करते हैं। शादी के पश्चात् बच्चे अलग जीवन यापन करते हैं। आभूषणों में गुजहा ‡हाथ में‡, हसुली, मंगलसूत्र, कनफूल, छुच्छी ‡नाक में‡, छागल, कड़ा, करधन सभी धारण करते हैं। धोती, कुर्ता, पैजामा इनका मुख्य वस्त्र है। परिवार प्रायः पितृ प्रधान होता है। ये मांसाहारी एवं शाकाहारी दोनों होते हैं। दारू, ताड़ी का रस खूब पीते हैं। पशुपालन बिल्कुल नहीं करते हैं। शव को जलाते हैं तथा हिन्दुओं की तरह शुद्ध, तेरही सब कुछ सम्पन्न करते हैं।

## अध्याय - चार

## मध्य गांगेय मैदान में पुरातात्वीय अन्वेषण और उनका संजातीय समीकरण ।

यद्यपि गंगा के मैदान ने भारत के प्रारम्भिक इतिहास और संस्कृति के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है लेकिन यहाँ पहाड़ न होने के कारण पाषाणयुगीन संस्कृतियों के अस्तित्व की संभावना नहीं थी । गंगा के मैदान के मध्यवर्ती भाग में हुए पुरातात्विक अनुसन्धानों ने इस असंभावना को झुठला दिया है और अब यहाँ का इतिहास परवर्ती प्रातिनूतन कालीन पाषाण संस्कृति से प्रारम्भ होता है ।

प्रयाग विश्वविद्यालय के प्रो० जी० आर० शर्मा के निर्देशन में मध्य गंगा घाटी के इस क्षेत्र में किये गये पुरातात्विक अन्वेषणों से सारे परिप्रेक्ष्य को एक नया आयाम मिला है,। और गंगा घाटी का इतिहास प्रागैतिहासिक काल से ही विश्व इतिहास का एक अंग बन गया है । मध्य गंगा घाटी के दक्षिण विन्ध्य क्षेत्र में आदि मानव के प्राचीनतम प्रमाण 4-5 लाख वर्ष पहले से मिलने लगते हैं। इस क्षेत्र की नदी उपत्यकाओं के अनुभागों से पाषाण कालीन संस्कृतियों के क्रमिक विकास के उल्लेखनीय प्रमाण मिले हैं ।[1] तत्कालीन पशुओं के अस्मीभूत अवशेष और मानव निर्मित पाषाण उपकरण नदी अनुभागों और वेदिकाओं से प्राप्त होते हैं । विन्ध्य पर स्थित उद्योग स्थलों से मिलने वाले

---

1• शर्मा, जी० आर०, 1973, स्टोन एज इन दि विन्ध्याज एण्ड दी गंगा वैली, रेडियो कार्बन डेट्स एण्ड इन्डियन आक्र्योलाजी, सं० डी पी० अग्रवाल और ए० घोष, पृष्ठ 106-108 ।

उपकरणों तथा उपकरण निर्माण प्रक्रिया में निकले फलकों आदि से भी तत्कालीन मानव की कहानी के पुनर्निर्माण में सहायता मिली है । उच्च पूर्व पाषाण काल में विन्ध्य क्षेत्र की जलवायु में परिवर्तन होने लगा था, इसके प्रमाण यहाँ के नदी अनुभागों से प्राप्त हुये हैं । बदले हुए परिवेश के कारण ही संभवत: उपकरण निर्माण तकनीक में परिवर्तन करके नवीन प्रकार के उपकरणों का निर्माण किया गया ।[1] जलवायु में इस क्रान्तिकारी परिवर्तन का प्रभाव गंगा घाटी पर भी पड़ा और गंगा उत्तर से खिसक कर दक्षिण में अपनी वर्तमान स्थिति में चली आयी अपने मार्ग परिवर्तन के कारण उत्तर में गंगा नदी ने बहुत सी धनुषाकार झीलों का निर्माण कर दिया ।

गंगा के प्राचीन प्रवाह मार्ग में निर्मित, अधिकांश धनुषाकार झीलें अभी भी अपना अस्तित्व बनाये हुए हैं । कुछ झीलें प्राकृतिक कारणों से भर गयी हैं और कुछ को यहाँ के निवासियों ने खेतों में परिवर्तित कर लिया है । प्रतापगढ़ के रसूलपुर, इलाहाबाद के रामगढ़, जौनपुर के गुजरताल, वाराणसी के रामलताल, आजमगढ़ के असकरताल तथा सुल्तानपुर की सिहोरी झील उन धनुषाकार झीलों में है जिनका अस्तित्व अभी भी बना हुआ है, ये झीले 20•48 से 1•92 वर्ग किमी0 के क्षेत्र में विस्तृत है ।[2] गंगा घाटी के वर्तमान धरातल

---

1• शर्मा, जी0 आर0 1973, स्टोन एज इन दी विन्ध्याज एन्ड दी गंगा वैली, रेडियो कार्बन डेटस एण्ड इन्डियन आक्यालॉजी, सं0 डी0 पी0 अग्रवाल और ए0 घोष, 1973, पृ0–106–8

2• शर्मा, जी0 आर0 1973, मेसोलिथिक लेक कल्चर्स इन दी गंगा वैली, प्रोसीडिंग्स आफ दी प्री- हिस्टारिक सोसाइटी, वाल्यूम 39, पृ0 – 129–30 •

के निर्माण में इन झीलों का अत्यधिक योगदान है क्योंकि इस क्षेत्र की अधिकांश नदियाँ इन्हीं झीलों से निकलती है । इन झीलों के किनारे का पुराना धरातल उसरीला होने के कारण खेती के लिये अधिक उपयुक्त नहीं है, यही कारण है कि झीलों के तट पर स्थित पुरातात्त्विक स्थल सुरक्षित रह सके ।

उच्च पूर्व पाषाण काल के बाद जलवायुगत परिवर्तन के कारण तत्कालीन पशुजगत और वनस्पति जगत में भी परिवर्तन हुये । इस बदलते परिवेश में मानव को भी नये प्रकार के उपकरणों की आवश्यकता हुई । अतः उसने नन्हें-नन्हें उपकरणों का निर्माण प्रारम्भ किया । इन उपकरणों को हम लघु पाषाण उपकरणों के नाम से जानते हैं । इनमें से कुछ उपकरण वाणाग्रों के रूप में प्रयुक्त किये जाते है, और कुछ को संयोजित उपकरण के रूप में प्रयुक्त करते हैं । उच्च पूर्व पाषाणकाल के अन्त होते-होते जबकि विन्ध्य क्षेत्र में सूखी जलवायु के प्रमाण मिलते हैं, और गंगा के दक्षिण की तरफ खिसकने के प्रमाण मिलते हैं, तभी सर्वप्रथम गंगा के मैदान में पाषाण कालीन मानव के आगमन के प्रमाण भी मिलने लगते हैं ।

गंगा घाटी में कई स्थलों पर गंगा के पुराने कछार के अनुभागों में चार जमाव मिलते हैं ।सबसे नीचे का जमाव कंकरीली पीली मिट्टी का है । इसके ऊपर काली मिट्टी का जमाव है । तीसरा जमाव पीतनी मिट्टी का है और सबसे ऊपर बलुई मिट्टी का लगभग 2 मीटर मोटा जमाव है । गंगा घाटी के इस ऊपरी जमाव में ऊपर से नीचे तक लघु पाषाण उपकरण प्राप्त होते है । इस आधार पर हम कह सकते हैं कि इन उपकरणों का निर्माता मध्य

पाषाण कालीन मानव इस क्षेत्र में उस समय आया जब इस ऊपरी बलुई मिट्टी का जमाव प्रारम्भ हुआ था । और उसका कार्यकाल इस जमाव के अन्त तक चलता रहा । नवीन शोधों के आलोक में मध्य पाषाण काल के भी पहले के सांस्कृतिक अवशेष गंगा के मैदान में प्राप्त हुए है । इन उपकरणों को उच्च पूर्व पाषाण काल तथा मध्य - पाषाण काल के संक्रमण काल का माना गया है । ये उपकरण जिस धरातल पर प्राप्त होते हैं उसके अवलोकन से यह कहा जा सकता है कि इनका भूतात्विक धरातल, गंगा के कछार का तीसरा जमाव पीतनी मिट्टी का ऊपरी धरातल है । इसी धरातल पर सर्वप्रथम पाषाण कालीन मानव मध्य गंगा घाटी में आया ।

मध्य गंगा घाटी में हाल में हुये पुरातात्विक अन्वेषणों के आलोक में सम्पूर्ण प्रागैतिहासिक संस्कृति की जो रूपरेखा निर्मित हुई है उसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :-

• <u>उच्च पूर्व पाषाण काल और मध्य पाषाण काल के संक्रमण काल की संस्कृति</u>

गंगा घाटी की इस प्राचीनतम संस्कृति[1] के प्रमाण अभी तक पांच स्थलों से प्राप्त हुये हैं -

§ अक्षांश $25^0$ $23^0$ 45" उ0, देशान्तर $82^0$ 53' 45" पूर्व §, इलाहाबाद में अहिरी § अक्षांश $25^0$ 59' 23" उ0, देशान्तर $82^0$ 16' 12" पूर्व §, मन्दाह §अक्षांश $25^0$ 59' 0" उ0, देशान्तर $82^0$ 2' 35" पूर्व § तथा साल्हीपुर §अक्षांश

---

1• शर्मा, जी0 आर0, 1975, सीजनल माइग्रेशन्स एण्ड मेसोलिथिक लेककल्चर्स आफ दी गंगा वैली, के0 सी0 चट्टोपाध्याय मेमोरियल वाल्यूम पृ0 - 9

$26^0$ 0' 10" उ0, देशान्तर $82^0$4' 30" पूर्व ) ये स्थल[1] धनुषाकार झीलों अथवा इन झीलों से निकलने वाली सरिताओं के तट पर स्थित हैं।

उच्च पूर्व पाषाणकाल तथा मध्य पाषाण काल के संक्रमण कालीन सांस्कृतिक स्थलों से अत्यधिक मात्रा में पाषाण उपकरण प्राप्त हुये हैं। इन स्थलों पर पूर्ण निर्मित उपकरणों के साथ ही निर्माण की विभिन्न अवस्थाओं में उपकरण क्रोड फलक आदि प्राप्त होते हैं जिनसे प्रतीत होता है कि इन उपकरणों का निर्माण इन्हीं स्थलों पर किया गया है। गंगा घाटी में पाषाणों का स्रोत नहीं है। विन्ध्य क्षेत्र से पाषाण कालीन मानव पत्थर के पिन्ड लेकर गंगा घाटी में आता था, यहीं पर उपकरणों का निर्माण करता और शिकार करता था।[1] जलवायु और परिवेश में परिवर्तन तथा तत्कालीन आबादी में वृद्धि इस आगमन का कारण रहा होगा। अभी तक इस संस्कृति के किसी स्थल का उत्खनन नहीं हुआ है लेकिन इन स्थलों की सतह से जो उपकरण एकत्र किये गये हैं वे सभी चर्ट पत्थर पर निर्मित है और उन पर अत्यधिक रासायनिक काई लगी हुयी है। उपकरण प्रकारों में समानान्तर[illegible] वाले ब्लेड, भुथड़े ब्लेड, तक्षणी, नोक, खुरचनी, अर्द्धचन्द्र आदि [illegible]य हैं।

---

1. शर्मा, जी0 आर0, 1978, प्रागैतिहासिक मानव की कहानी: गंगा घाटी की प्राचीन संस्कृति पर नया प्रकाश, दिनमान, भाग 14, अंक 34, 20-26 अगस्त, 1978, पृ0 24।

विन्ध्य क्षेत्र में बेलन नदी के तट पर स्थित एक स्थल चोपनी माण्डो[1] का उत्खनन किया गया है । इस स्थल की प्रथम संस्कृति उच्च पूर्व पाषाण और मध्य-पाषाण काल के संक्रमण काल की संस्कृति है । पाषाण कालीन मानव ने सर्वप्रथम इसी काल में गोलाकार झोपड़ियाँ बनाकर आवास प्रारम्भ किया । गंगा घाटी की इस प्राचीनतम संस्कृति ने पाषाण कालीन मानव के ऋतुनिष्ठ प्रव्रजन का भारत में प्राचीनतम प्रमाण प्रस्तुत किया है । जबकि विन्ध्य क्षेत्र की सूखे की विभीषिका से बचने के लिये मनुष्य जीविका की तलाश में नदी घाटियों को पार करता हुआ उत्तर की तरफ आया । संभवतः उसका इस क्षेत्र में आगमन नितान्त अल्पकालिक होता था । अनुकूल मौसम में वह पुनः अपने मूल क्षेत्र में लौट जाता था । इस काल के उपकरणों का जो अध्ययन किया गया है उससे इस बात के प्रमाण मिले हैं कि इस संस्कृति के गंगा घाटी के उपकरण विन्ध्य क्षेत्र के उपकरणों की अपेक्षा छोटे हैं । उपकरणों की यह आकारगत न्यूनता गंगा घाटी में पत्थर पिन्डों की अनुपलब्धता के कारण थी, मानव ने इनकी महत्ता को ध्यान में रखकर तब तक उपकरण निर्माण किया जब तक ये अत्यन्त छोटे नहीं हो गये ।

विन्ध्य क्षेत्र में उच्च पूर्व पाषाण काल के उपकरण सीमेन्टेड ग्रेवेल तृतीय से मिलते हैं । इस जमाव से दो कार्बन तिथियाँ 23840 ± 830 ई० पू० और
− 760

---

1• शर्मा, जी० आर० और अन्य, 1980, फ्राम हंटिंग, गेदरिंग टू फूड प्रोडक्सन एन्ड डोमेस्टीकेशन आफ एनीमल्स : इक्सकेवेशन्स एट चोपनीमान्डो, महदहा एण्ड महगडा

17765 ± 340 ई0 पू0[1] प्राप्त हुआ है । इस आधार पर विन्ध्य क्षेत्र की उच्च पूर्व पाषाण तथा मध्य पाषाण काल के संक्रमण कालीन संस्कृति को 17000 ई0 पू0 के बाद का माना गया है । गंगा घाटी इस संस्कृति को भी यही समय प्रदान किया जा सकता है ।

§2§ मध्य पाषाणिक संस्कृति:-

सांस्कृतिक अनुक्रम में उपरोक्त संस्कृति के बाद जिस पाषाण कालीन संस्कृति के प्रमाण मिले है उसे मध्य पाषाणिक संस्कृति के नाम से जाना जाता है । इस काल के जीव और वनस्पति जगत के अध्ययन से यह तथ्य उद्घटित हुआ है कि अब घास के मैदानों की अधिकता हो गयी थी । मनुष्य को शिकार करने के लिये और खाने योग्य जंगली घासों को काटने के लिये नये प्रकार के उपकरणों की आवश्यकता हुयी । ये उपकरण आकार में अत्यन्त छोटे हैं अत: इन्हें लघु पाषाण उपकरण कहा जाता है । इसके पूर्व की संस्कृति के उपकरण प्राय: चर्ट पत्थर पर थे, अब अगेट, कार्नेलियन, क्वार्टज आदि पत्थरों का प्रयोग उपकरण निर्माण में होने लगा । यद्यपि इन उपकरणों के निर्माण की तकनीक नहीं है जो उच्च पूर्व पाषाण तथा मध्य पाषाण काल के संक्रमण काल की है । लेकिन उपकरण प्रकारों में अब अधिक विविधता दृष्टिगोचर होती है ।

इस संस्कृति के उपकरण सबसे अधिक क्षेत्र में सबसे अधिक स्थलों से प्राप्त हुये हैं (चित्र संख्या-5) । गंगा के उत्तर वाराणसी, इलाहाबाद, सुल्तानपुर, जौनपुर और प्रतापगढ़ से इस संस्कृति के लगभग 193 स्थल प्रकाश में आये हैं ।[2] इस संस्कृति

---

1• जुलाई 1973, फिजिकल रिसर्च लेबोरेटरी, अहमदाबाद ।
2• ये सब पुरातात्त्विक स्थल प्रयाग विश्वविद्यालय के प्रो0 जी0 आर0 शर्मा के निर्देशन में किये गये गहन सर्वेक्षण के परिणाम स्वरूप प्रकाश में आये हैं ।

MESOLITHIC SITES IN THE GANGETIC PLAIN

रेखाचित्र - 5
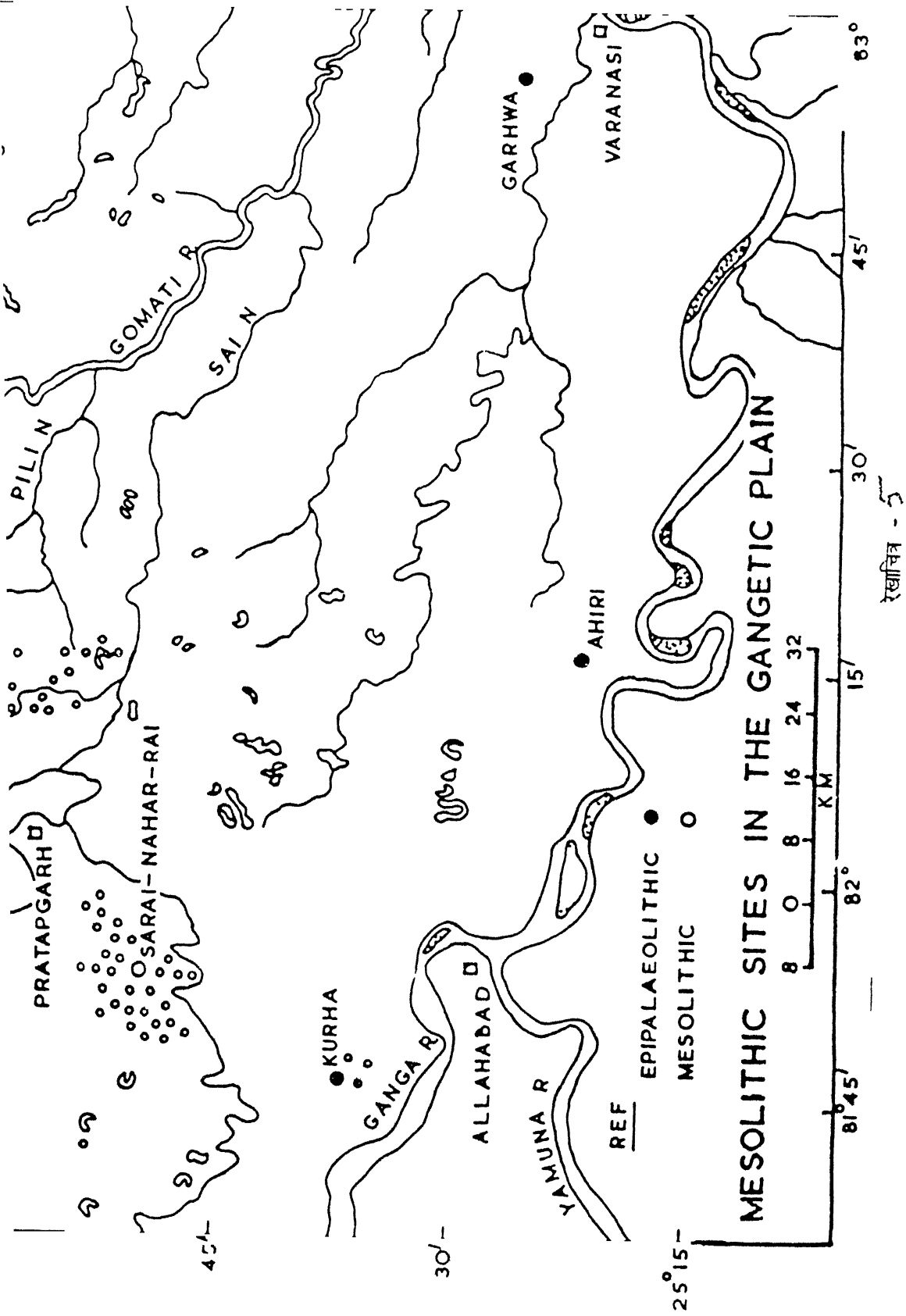
के विकास की एक अवस्था में कुछ नये उपकरणों का आवीष्कार हो जाता है। ये उपकरण त्रिभुज एवं समलम्ब चतुर्भुज के आकार के हैं। अपने ज्यामितीय आकार के कारण मध्य पाषाणिक संस्कृति के इस चरण के उपकरणों को ज्यामितीय लघु पाषाण उपकरण कहते हैं। इस प्रकार मध्य पाषाणिक संस्कृति दो चरणों में विभक्त हो गयी है:-

§1§ ज्यामितिक लघु पाषाण उपकरण, §2§ अज्यामितिक।

गंगा घाटी में सबसे अधिक लगभग 172 स्थल अज्यामितिक लघु पाषाण उपकरणों वाले हैं। इस चरण के प्रमुख स्थलों में इलाहाबाद के कुढ़ा §अक्षांश 25° 35' 4" उ0, देशान्तर 81° 43' 17" पूर्व§, गंजमपुर §अक्षांश 25° 31' 58" उ0, देशान्तर 81° 44' 41" पूर्व§ और महरूडीह §अक्षांश 25° 31' 58" उ0, देशान्तर 81° 49' 3" पूर्व§, प्रतापगढ़ के हड़ही भिकुली §अक्षांश 25° 50' 38" उ0, देशान्तर 81° 48' 25" पूर्व§, कन्धई मधुपुर §अक्षांश 25° 59' 50" उ0, देशान्तर 82° 4' 0" पूर्व§ आदि स्थलों का उल्लेख किया जा सकता है।

द्वितीय चरण के अभी तक लगभग 21 स्थल प्रकाश में आये है। उनमें उल्लेखनीय स्थल है इलाहाबाद के विछिया §अक्षांस 25° 34' 13" उ0, देशान्तर 81° 43' 25"§ प्रतापगढ़ के भेवनी § अक्षांश 25° 59' 50" उ0, देशान्तर 82° 9' 25" पूर्व§, धर्मनपुर §अक्षांश 26° 1' 0" उ0, देशान्तर 82° 5' 10" पूर्व§, उतरास §अक्षांश 25° 58' 30" उत्तर, देशान्तर 82° 8' 30" पूर्व§ ज्यामितीय लघु पाषाण उपकरणों वाले तीन स्थलों का उत्खनन भी किया गया है जिससे इस संस्कृति के विविध पक्षों पर प्रकाश पड़ा है। ये उत्खनित स्थल है प्रतापगढ़ में स्थित सरायनाहरराय, महदहा, दमदमा।

इनका उत्खनन इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास विभाग द्वारा हुआ । यहाँ के मानव के सन्दर्भ में निम्न बातें उल्लेखनीय है ।

सरायनाहर राय:-

(अक्षांश 25° 48' उत्तर, देशान्तर 81° 50' पूर्व) यह स्थल प्रतापगढ़ से 15 किमी० दक्षिण पश्चिम, एक धनुषाकार झील के किनारे स्थित है । यह झील अब सूख चुकी है । सराय नाहर राय में किये गये उत्खनन[1] से कब्रों में दफनाये हुये नरकंकाल, गर्त चूल्हे, लघु पाषाण उपकरण आदि प्राप्त हुये हैं (चित्र संख्या-6) । लोग समूह में रहते थे इसके परिणाम स्वरूप सामूहिक रूप में प्रयुक्त होने वाले गर्त चूल्हें और फर्श प्रकाश में आये हैं । इस फर्श के चारों ओर चार गोलाकार गड्ढे मिले हैं जिनमें लट्ठा गाड़कर छत बनायी गयी थी । फर्श पर जली मिट्टी के टुकड़े, जानवरों की जली, अधजली हड्डियाँ, घोंघे और लघु पाषाण उपकरण प्राप्त हुये हैं । गर्त चूल्हें गोले अथवा अण्डाकार हैं । इनमें जानवरों का मांस भूना जाता था । चूल्हों की राख में कोयले नहीं प्राप्त होते इससे लगता है कि मांस को घास-फूस से ही भूना जाता था एक चूल्हें को दो बार खोदकर प्रयोग करने के प्रमाण मिले हैं (प्लेट क्रमांक-25) । इस स्थल पर मध्य पाषाणिक मानव कम से कम दो बार रहने के लिये आया था । यहाँ से उपलब्ध हड्डियों के अध्ययन से जिन जानवरों का प्रमाण मिला है उनमें गाय, बैल, भैंसा, हाथी, हिरण, बारहसिंघा तथा भेड़-बकरियों का उल्लेख किया जा सकता है । उल्लेखनीय है कि ये सभी पशु जंगली थे । कछुआ, घोंघे, मछली तथा चिड़ियों के अस्थि अवशेष भी मिले हैं

1. शर्मा जी० आर०, 1973 मेसोलिथिक लैक कल्चर्स इन दी गंगा वैली, प्रोसीडिंग्स आफ दी प्री हिस्टारिक सोसायटी, वाल्यूम 39, पृष्ठ 134-46 .

SITE-PLAN
SARAI NAHAR RAI 1972
1⅓ CM TO A METRE
0 1 2 3 4 5
N
SKL-I
CHANNEL
SKL-II
SKL-III
SKL-IV
SKL-V
SKL IX
SKL-X
SKL-XIII
H
H-1/A3
H-1/B4
H-2/B4
H-1/B5
P
PH
CHANNEL
REFERENCES
POST HOLE_____PH
SKELETON_____SKL
PIT_________P
HEARTH________H
BONE
MICROLITH
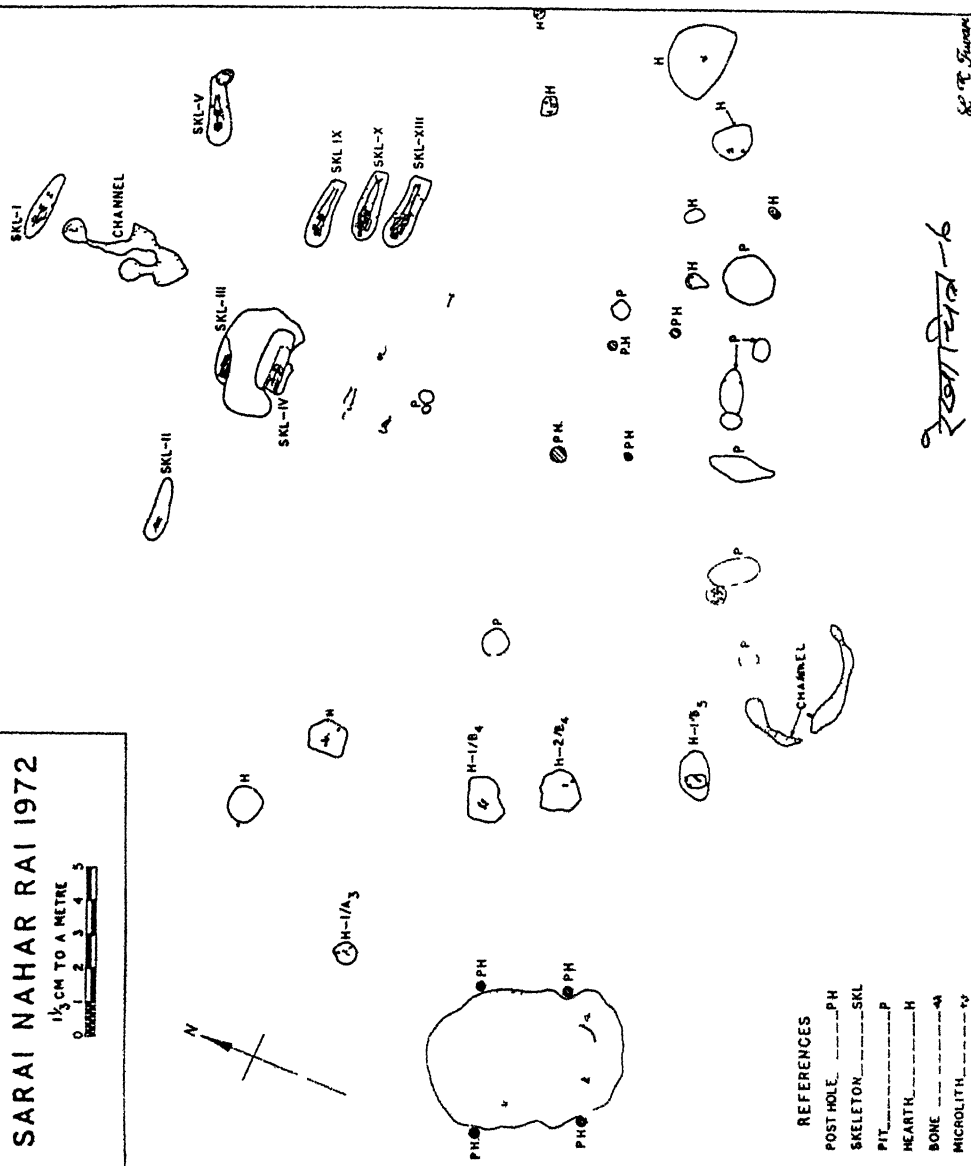
रेखाचित्र–6

प्लेट क्रमांक - 25 - सरायनाहरराय : दो चरणों में गर्त चूल्हे के प्रयोग का प्रमाण ।

जिन्हें मध्य पाषाणिक मानव खाया करता था। मध्य पाषाण काल के जानवर आज के पशुओं की तुलना में काफी बड़े थे।

सरायनाहरराय के उत्खनन से मध्य पाषाणिक लोगों की शवाधान प्रणाली पर विशद प्रकाश पड़ा है। शवों को अण्डाकार छिछली कब्रों में दफनाया जाता था। कब्र में मृतक को रखने के पहले मुलायम भुरभुरी मिट्टी बिछायी जाती थी और उन्हें सीधा पीठ के बल रखा जाता था। इनका सिर पूर्व की तरफ तथा पैर पश्चिम की तरफ रखा जाता था। एक हाथ शरीर के समानान्तर और दूसरा पेट पर रखकर दफनाने की परम्परा थी। मृत्योपरान्त इसीलिये कब्रों में लघु पाषाण उपकरण, जानवरों की हड्डियाँ तथा घोंघे आदि मृतकों को भेंट के रूप में रखे हुए प्राप्त होते हैं। कब्रों को ढकते समय चूल्हों की राख भी प्रयुक्त होती थी। एक कब्र में चार मुर्दे एक ही साथ दफनाये हुये मिले हैं जिसमें पहले एक पुरुष तथा नारी और उसके ऊपर पुनः एक पुरुष और नारी के कंकाल रखे हुये मिले हैं। उल्लेखनीय है कि मध्य पाषाणकाल की इस कब्र में नारियाँ पुरुषों के बाँयें रखी गयी हैं।

इस स्थल से बहुत से लघु पाषाण उपकरण निर्माण की विभिन्न अवस्थाओं में प्राप्त हुये हैं। उपकरण निर्माण के लिये चैल्सिडनी, अगेट, जैस्पर और कार्नेलियन पत्थरों का प्रयोग किया गया है। यहाँ से जो उपकरण प्राप्त हुये हैं उनमें कई तरह के नोक, समानान्तर बाहु वाले और भुथड़े ब्लेड, फ्लक, अर्द्धचन्द्र, विषम बाहु और समद्विबाहु त्रिभुज, खुर्चनी तथा तक्षणी का उल्लेख किया जा सकता है। जानवरों की हड्डियों पर बने हुये उपकरण यहाँ अधिक नहीं प्राप्त

हुये हैं लेकिन कुछ पशुओं के सींगों से जमीन को खोदने का काम लिया जाता था इसीलिये उनकी नोक अत्यन्त चिकनी हो गयी है । 13•2 सेमी0 लम्बे तथा 3 सेमी0 चौड़े हड्डी के एक ब्लेड का उल्लेख किया जा सकता है जिस पर फलक निकालकर तेज धार बनायी गयी है ।

महदहा:-

{अक्षांश 25 58' 2" उत्तर, देशान्तर 82 11' 30" पूर्व} गंगा घाटी का दूसरा मध्य पाषाणिक स्थल जिसका उत्खनन किया गया है, महदहा है ।[1] यह स्थल प्रतापगढ़ जिले की पट्टी से उत्तर 5 किलोमीटर की दूरी पर वर्तमान महदहा गाँव के पूर्व दिशा में स्थित है ।

1953 में शारदा सहायक नहर परियोजना की जौनपुर शाखा से इस स्थल का काफी भाग नष्ट हो गया था । 1978 में इस नहर को चौड़ा करने की प्रक्रिया में महदहा पुरातत्व जगत में प्रकाश में आया उसी वर्ष यहाँ पर प्राचीन इतिहास, संस्कृति और पुरातत्व विभाग, प्रयाग विश्व-विद्यालय के प्रो0 जी0 आर0 शर्मा के निर्देशन में उत्खनन प्रारम्भ किया गया ।

उक्त मध्य पाषाणिक स्थल लगभग 8,000 वर्ग मीटर के क्षेत्र में एक धनुषाकार झील के पश्चिमी तट पर स्थित है । इस स्थल से होकर गुजरने वाली नहर के पश्चिम आवास तथा कब्रगाह के प्रमाण मिले हैं और पूर्व मध्य पाषाण कालीन जानवरों की बहुत सी कटी हुई हड्डियाँ प्राप्त हुयी हैं । संभवतः

---

1• इन्डियन आर्क्यालिजी: ए रिव्यू 1977-78 और 1978-79•

यही वह क्षेत्र था जहाँ पर मध्य पाषाणिक मानव जानवरों को काटता था और हड्डियों के आभूषण तथा उपकरण बनाता था । (प्लेट-26)

महदहा के आवास तथा शवाधान क्षेत्र में मध्य पाषाणिक मानव के सांस्कृतिक अवशेष 60 सेमी0 मोटे जमाव में दबे पड़े हैं । इस जमाव को स्तरीकरण के सिद्धान्त पर चार स्तरों में विभाजित किया गया है । खुले हुये क्षेत्र में पाषाणिक संस्कृति का इतना मोटा जमाव अत्यन्त उल्लेखनीय है । इससे इस स्थल पर मध्य पाषाणिक मानव के एक लम्बे समय तक रहने का बोध होता है ।

यहाँ के कब्रगाह से कुल 30 शवाधनों का उत्खनन किया गया है । जो स्तरीकरण तथा एक कब्र का दूसरी कब्र के ऊपर होने के आधार पर चार विभिन्न चरणों मे सम्बन्धित हैं । सरायनाहर राय की तरह महदहा की समाधियाँ भी छिछली और अण्डाकार है जिनमें मृतकों को सांगोपांग लिटाकर रखा गया है । यद्यपि महदहा में भी अधिकतर मृतकों का सिर पश्चिम की तरफ तथा पैर पूर्व की तरफ रखा गया है लेकिन इस स्थल पर मध्य पाषाणिक मानव अपने मृतकों को कभी-कभी सिर पश्चिम और पैर पूरब की तरफ रखकर भी दफनाता था । संभव है यहाँ दो प्रजातियों के लोग एक ही साथ रहते रहें हों । समाधियों में मृतकों के दोनों हाथ प्रायः शरीर के समानान्तर फैलाकर रखे गयें हैं लेकिन कुछ मृतकों का एक हाथ कटि के नीचे अथवा जाँघों
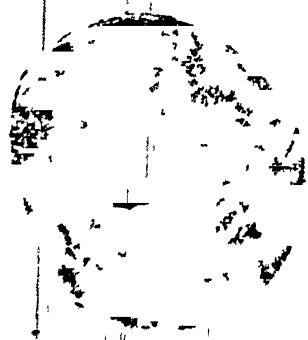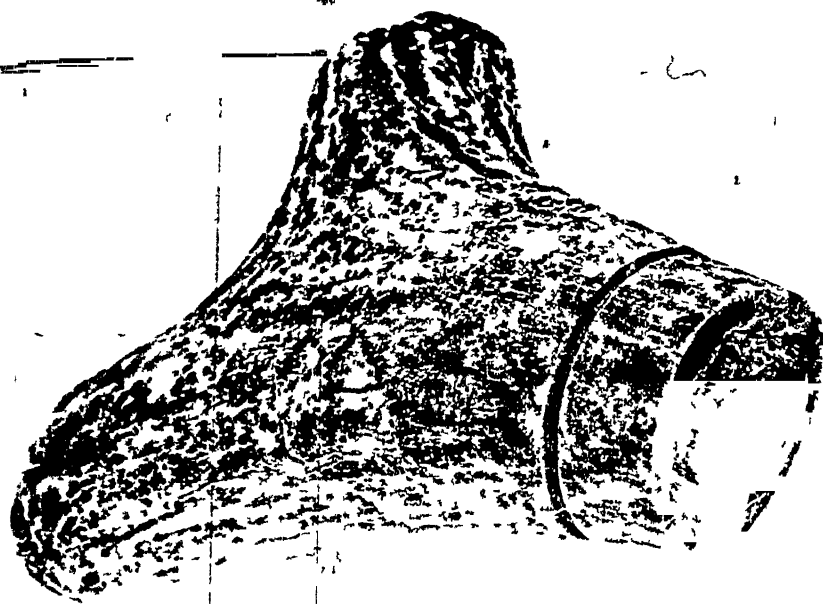
प्लेट क्रमांक – 26 – महदहा : मृग–श्रृंग से निर्माण प्रक्रिया में आभूषण ।

के बीच में रखा हुआ भी मिला है । अधिकतर मृतकों के कपाल बायी ओर झुके हुये हैं । एक नरकंकाल विशेष उल्लेखनीय है जिसके दोनों पैर मोड़कर रखे गये हैं, बायाँ हाथ कटि के नीचे और दाहिना जाघों के बीच में है । महदहा में दो बच्चों के शवाधान भी प्राप्त हुये हैं जिनमें से एक 6 वर्ष का बालक और दूसरा 4 वर्ष की बालिका है ।

दो समाधियों में युग्म शवाधान के प्रमाण भी प्राप्त हुये हैं । एक समाधि में नारी बायें और पुरूष दायें रखकर दफनाये गये हैं तथा दूसरी में पुरूष नीचे और नारी उसके ठीक ऊपर है । पुरूष अपने कान में कुण्डल धारण किये है और गले में हार (प्लेट-27) । एक दूसरी कब्र में भी पुरूष के गले में हार उपलब्ध हुये हैं । उल्लेखनीय है कि एक भी नारी आभूषण नहीं पहने है । लगता है आभूषण से अपने को [illegible] करने की परम्परा पुरूष तक ही सीमित थी । प्रागैतिहासिक भारत में आभूषण के प्रयोग का यह प्राचीनतम प्रमाण है । ये आभूषण छिद्रयुक्त गोलाकार हड्डियों को प्रायः बारहसिंहों की सींग के निकले भाग को काटकर बनाये गये हैं । उत्खनन में कई आभूषण निर्माण की विभिन्न अवस्थाओं में प्राप्त हुये हैं जिनसे इनकी निर्माण प्रक्रिया पर प्रकाश पड़ता है ।

दमदमा ( अक्षांश 26° 10' 0" उ0, देशान्तर 82° 10' 36" पू0 ) इस क्षेत्र का सबसे बाद का मध्य पाषाणिक उत्खनित स्थल है । महदहा से 5 कि0मी0 उत्तर में यह स्थल सई नदी की सहायक पीली नदी के दो नालों के संगम पर एक टीले के रूप में स्थित है । यहाँ पर 8750 वर्गमीटर के क्षेत्र में उत्खनन किया गया था जिससे 1.05 मी0 मोटा आवासीय जमाव उपलब्ध हुआ था जो 10 स्तरों में

प्लेट क्रमांक - 27 - महदहा : नारी कंकाल के उपर स्थित आभूषण धारण किये नर कंकाल ।

विभाजित किया गया है[1]।

सबसे ऊपरी स्तर मध्य पाषाण काल के बाद का है लेकिन अन्य 9 स्तर मध्य पाषाण काल के विभिन्न चरणों से सम्बन्धित हैं । यहाँ पर किये गये 5 स्तरों के उत्खनन से गंगा के मैदान की मध्य पाषाणिक संस्कृति के महत्वपूर्ण पक्षों पर प्रकाश पड़ता है । कई गर्त चूल्हे, (प्लेट-28) पकी मिट्टी के फर्श और 4। मानव शवाधान उत्खनन से प्रकाश में आये हैं । इस संस्कृति के अन्य उपादानों में लघु पाषाण उपकरण, हड्डी के उपकरण, पत्थर के सिल-लोढे, हथौड़े, जली मिट्टी के टुकड़े, जले हुये दाने और पशुओं की हड्डियाँ (प्लेट-29) सम्मिलित हैं । यहाँ पर 5 समाधियों में युग्म शवाधान के प्रमाण मिले हैं और एक समाधि में 3 कंकाल हैं ।

उपर्युक्त तीनों स्थलों के मध्य पाषाणिक मानव सामान्यतः 1.80 मीटर लम्बे थे, जिन्हें डोलिकोसिफालिक प्रजाति का माना गया है । हाथ पैर की हड्डियों के दोनों सिरों के अस्थिकरण, कपाल की सन्धि रेखाओं के विलयन, हड्डी तथा दाँतों की अवस्था के आधार पर विभिन्न नर कंकालों को 17 से 35 वर्ष की आयु निर्धारित की गयी है । महदहा में बच्चों के अतिरिक्त लगभग 50 वर्ष की एक वृद्धा का नर कंकाल प्राप्त हुआ है । तत्कालीन जीवन की दुरूहता संभवतः मनुष्यों को अधिक दिनों तक जीवित नहीं रहने देती थी ।

---

वर्मा, आर०के० मिश्रा० वी०डी०, पाण्डेय, जे०एन० और पाल जे०एन० 1985, ए प्रिलिमिनरी रिपोर्ट आन दी इक्सकेवेशन्स एट दमदमी (1982 - 1984) <u>मैन एण्ड इनवायरनमेन्ट</u>, 9, 45-65.
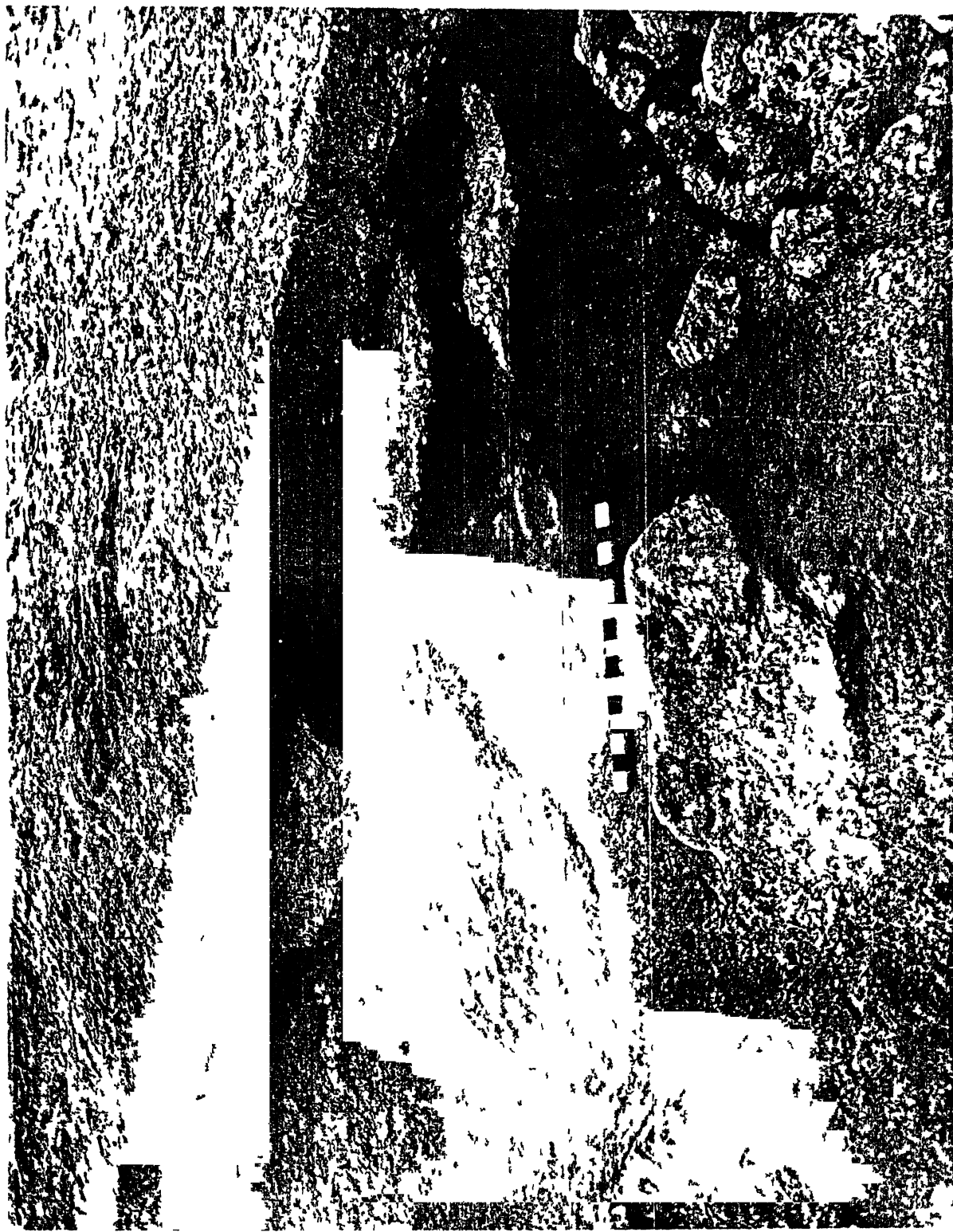
प्लेट क्रमांक - 28 - दमदमा : विभिन्न प्रकार के गर्त चूल्हे ।

प्लेट क्रमांक - 29 - दमदमा : पशुओं (हाथी) की हड्डियाँ।

इन स्थलों पर आवास और समाधियाँ पास ही पास मिले हैं । जहाँ पर लोग निवास करते थे वहीं पर अपने मृतकों के लिए समाधियाँ भी बनाते थे । महदहा में गर्त चूल्हे सरायनाहर राय की तरह गोल अथवा अण्डाकार है लेकिन कभी कभी इन्हें गीली मिट्टी से लीपा जाता था । मिट्टी का यह लेप भी पक गया है । संभवत: लेपयुक्त गर्त चूल्हों में मांसपिण्ड रखकर उन पर घास फूस रख दिया जाता था और मिट्टी के टुकड़ों से ढककर आग लगा दी जाती थी । यही कारण है कि इन चूल्हों में जली हड्डियाँ और राख के अतिरिक्त जली मिट्टी के टुकड़े भी प्राप्त होते हैं । सरायनाहर राय की ही तरह महदहा का मध्य पाषाणिक स्थल धनुषाकार झील के किनारे स्थित है । आवास स्थल एवम् वध क्षेत्र से लगे हुए झील में जानवरों की हड्डियाँ लघु पाषाण उपकरण आदि प्राप्त हुए हैं । झील के दक्षिणी पश्चिमी किनारे किए गये उत्खनन के परिणाम स्वरूप जमाव के 10 स्तर प्रकाश में आये । तट पर इनकी गहराई 1.90 मीटर है । मध्य पाषाण के अवशेष झील में नीचे के दो स्तरों 9 और 8 मिले हैं । जिसके अन्तर्गत लघु पाषाण उपकरण, जली मिट्टी के टुकड़े, हड्डियों के उपकरण, जानवरों की हड्डियाँ, सिल लोढ़ों के खण्डित भाग आदि सम्मिलित हैं । मध्य पाषाणिक संस्कृति के अवसान के बाद भी प्राकृतिक कारणों से झील में अवसादन होता रहा जिसमें आवास स्थल से जानवरों की हड्डियाँ लघुपाषाण उपकरण आदि बहकर जमा होते रहे । झील के विविध स्थलों की मिट्टी में मिले पुष्प परागों के विश्लेषण का कार्य इलाहाबाद विश्वविद्यालय की वनस्पति विभाग कर रहा है । अभी तक जो परिणाम मिले हैं उनसे यह कहा जा सकता है

महदहा के वध क्षेत्र और झील से जिन जानवरों की हड्डियाँ मिली हैं उनमें बैल, जंगली भैंसा, हिरण, बारहसिंघा, सुअर, दरियाई घोड़ा, गैंडा, हाथी आदि का उल्लेख किया जा सकता है । ये सब जंगली हैं । पशु पालन का कोई प्रमाण नहीं मिलता है ।

उल्लेखनीय है महदहा से लघु पाषाण उपकरण सरायनाहर राय की अपेक्षा संख्या में कम हैं । इसी कमी को पूरा करने के लिए संभवत: हड्डियों पर उपकरण बनाये गये । हड्डी के बने उपकरणों में बाणाग्र, नोंक, खुर्चनी, आरी, स्खानी आदि उल्लेखनीय हैं । हड्डियों के बने बाणाग्रों का प्राचीनतम् प्रमाण महदहा के उत्खनन ने ही प्रस्तुत किया है । बलुआ पत्थर पर बने सिल लोढ़े, हथगोले आदि भी महदहा से अत्यधिक मात्रा में उपलब्ध हुए हैं । सिल लोढ़ों की उपलब्धि से प्रतीत होता है कि मनुष्य अब जंगली घासों के बीज पीस कर खाने लगा था। महदहा के आवास समाधि क्षेत्र में कुछ ऐसे गर्त प्राप्त हुए हैं जिनमें गीली मिट्टी का मोटा लेप लगाया गया है । इनमें कभी-कभी लेप की कई परतें प्राप्त होती हैं । चूँकि इन गर्तों में न तो राख मिलती है और न ही जली हड्डियाँ एवम् जली मिट्टी के टुकड़े, इससे संभावना यही है कि इन गर्तों में खाने योग्य जंगली घासों के बीज संग्रहीत किए जाते थे । जब इनका लेप खराब होने लगता था तो इन्हें पुन: लीप दिया जाता था ।

दमदमा और महदहा के लघुपाषाण उपकरण भी सरायनाहर की ही तरह चर्ट, चैलसिडनी, कार्नेलियन, अगेट और जेस्पर पत्थरों पर बने ब्लेड, भुथड़े ब्लेड नोंक, खुर्चनी, त्रिभुज और समलम्ब चतुर्भुज सम्मिलित हैं । सरायनाहर राय से समलम्ब चतुर्भुज नहीं मिले । विन्ध्यक्षेत्र में लेखहिया[1] और चोपनीमान्डो के उत्खनन से इस बात

---

1. मिश्र, बी० डी०, 1972, समपेस्पेक्ट्स आफ इन्डियन आर्क्यालजी, पृ० 53

के प्रमाण मिले है कि समलम्ब चतुर्भुज का ज्ञान मनुष्य को त्रिभुज के बाद हुआ । इस आधार पर कहा जा सकता है कि महदहा की मध्य पाषाणिक संस्कृति कालक्रम में सरायनाहर राय के बाद की है । सरायनाहर राय में सिल लोढ़े, हड्डियों के बाणाग्र तथा आभूषण आदि का न मिलना महदहा को उसे बाद का प्रमाणित करता है ।

विन्ध्य क्षेत्र में जहाँ से इस संस्कृति के लोग पत्थर पिण्ड लेकर जीविका की तलाश में आये, लोग पहाड़ की गुफाओं अथवा खुले स्थानों पर रहते थे, वहाँ ये लोग शिलाश्रयों की दीवालों और छतों पर तत्कालीन पशुओं के चित्र, आखेट दृश्य, धनुष बाण धारण किए मनुष्यों तथा नृत्य करते पुरूष महिलाओं को बनाते थे । जिन रंगों से ये चित्र बनाये गये हैं उनके प्रमाण गेरू पिण्डों के रूप में शिलाश्रयों के उत्खनन से प्राप्त हुए हैं । इस तकनीक के गंगाघाटी के स्थलों पर शिलाश्रयों के अभाव में इनकी कलात्मक अभिरूचि के कोई प्रमाण नहीं मिलते हैं लेकिन घिसे हुये गेरू के टुकड़े प्राप्त हुये हैं । इन गेरू टुकड़े से निकले रंग का प्रयोग कहाँ किया इसका कोई पुरातात्त्विक प्रमाण हमारे पास नहीं है । संभव है चेहरे को अलंकृत किया जाता हो या पशुओं की खालों पर चित्र बनाये जाते हों । कुछ हड्डियों के उपकरणों को रेखायें उत्कीर्ण करके अलंकृत करने का प्रमाण अवश्य मिला है ।

गंगा घाटी की मध्य पाषाणिक संस्कृति को क्या समय प्रदान किया जाय ? सरायनाहर राय से एक कार्बन तिथि 8395±110 ई० पू०[1] प्राप्त हुयी है ।

---

1• टी० आई० एफ० आर०, 1941, डेट लिस्ट [टी० एफ० 1104]

विन्ध्य क्षेत्र के लेखहिया से दो कार्बन तिथियाँ 1710±110 ई० पू० और 2410± 115 ई० पू०[1] प्राप्त हुयी हैं। इस आधार पर कहा जा सकता है कि गंगा घाटी में भी यह संस्कृति संभवत: 2000 ई० पू० तक चलती रही।

सम्भवत: महदहा पर निवास शरद एवं ग्रीष्म ऋतु में किया गया होगा, वर्षा काल में निवास अन्यत्र रहा होगा। इसी समय सराय नहर राय पर भी आबादी बसी होगी। किसी स्थान पर पूरक मानसून स्थल स्थित था या थे? इस प्रश्न का उत्तर हिरण, बकरी, भेड़, गाय, सुअर जैसे जानवरों के वर्षा ऋतु के दौरान घूमने के स्थान के क्रम में अच्छी तरह दिया जा सकता है। मध्यगंगा घाटी के प्राति नूतन कालीन भू-आकृति विज्ञान के विषय में जानकारी अल्प है। मध्य गंगाघाटी के भागों में यथेष्ट जंगली जानवरों के होने में कोई कठिनाई नहीं है।

यूरोपीय मध्य पाषाणकालीन आखेट का सर्वाधिक आकर्षक नमूना ऊँचे क्षेत्रों से नीचे की ओर ऋतुनिष्ट प्रव्रजन है जो कि लाल हिरण के प्रवासी चक्र के समान है। भारतीय बोवाइड, जिनमें कि यूरोप में मौसमी संकेतक मृगश्रृंगों का अभाव है, कि हड्डियों से ऋतुनिष्ट आखेट के साक्ष्य प्राप्त करना आसान नहीं है। कुछ मृगश्रृंगों का प्रयोग महदहा में हड्डियों के गहने बनाने के लिए किया गया है। इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि अपने आप गिरे हुये मृगश्रृंग के टुकड़े अन्यत्र इकट्ठे किए गये हों, या पहले के मौसम के हों। महदहा एवं दमदमा में बड़ी संख्या में सिल और लोढ़े के पत्थर के अवशेष पाये गये हैं। स्पष्टत: इनका प्रयोग दानों, घास एवं अन्य वनस्पति, खाद्य वस्तुओं को पीसने के लिए किया जाता था। किंतु आरम्भिक कृषि का कोई साक्ष्य नहीं मिलता। क्योंकि उत्तर मध्य पाषाण काल के दौरान गहन आखेटकीय-संग्राहक अर्थव्यवस्था ने मध्य गंगा घाटी में अंतत: पौधों की कृषि को संचालित किया इसके प्रमाण अभी नहीं मिले हैं।

---

1. अग्रवाल, डी०पी० और कुसुमगर शीला, 1974, प्री-हिस्टारिक क्रोनोलाजी एण्ड रेडियो कार्बन डेटिंग इन इन्डिया, पृ० 60।

मध्य पाषाणिक संस्कृति के आवास और अर्थव्यवस्था के सन्दर्भ में प्राप्त प्रमाण विद्वानों को इतने महत्वपूर्ण लगे कि मध्य गंगा घाटी की मध्यपाषाणिक संस्कृति पर राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की गोष्ठियों का आयोजन किया गया । इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद के प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग में 1995 में मध्यपाषाणिक संस्कृति पर एक राष्ट्रीय संगोष्ठी आयोजित हुई थी इसमें कई महत्वपूर्ण शोध-पत्र प्रस्तुत किये गये और उन पर विचार-विमर्श प्रस्तुत किया गया । इसके उपरांत 1996 फोर्ली (इटली) में आयोजित इन्टरनेशनल यूनियन आफ प्रीहिस्टारिक एण्ड प्रोटोहिस्टारिक साइंसेज के 13 वें सम्मेलन में बायो आर्कियोलाजी आफ मेसोलिथिक इण्डिया नामक संगोष्ठी का आयोजन हुआ जिसमें गंगा घाटी की मध्य पाषाणिक संस्कृति के अध्ययन से संबद्ध विशेषज्ञों ने शोध-पत्र प्रस्तुत किए[1] ।

---

1. मिश्रा, वी० डी० (1996) हिस्ट्री एण्ड कल्चर आफ मेसोलिथिक रिसर्च एट इलाहाबाद यूनिवर्सिटी, इलाहाबाद भार, कोलोक्यिम 33, फोरली, इटली, इन्टरनेशनल यूनियन आफ प्री० एंड प्रोटोहिस्टोरिक साइंसेज के 13वें अधिवेशन के पुस्तिका में प्रकाशित ।
   काजले डी० ( 1996 ) प्लांट रिसोर्सेज ऐंड डायट एमंग द मेसोलिथिक हंटरर्स एंड फारगर्स (पूर्वोक्त में प्रकाशित)
   थामस पी०के० जोगलकर पी०पी०,मिश्रा वी०डी०, पाण्डेय जे०एन० व पाल जे०एन० (1996),फौनल इविडेंस फार द मेसोलिथिक फूड एकोनामी आफ द गंगेटिक प्लान विथ स्पेशल रिफरेंस टू दमदमा (पूर्वोक्त में प्रकाशित)

पाल जे० एन० ﴾ 1996 ﴿, लिथिक यूज वियर एनलिसिस एंड सबसिस्टेंस एक्टिविटीज एमंग द मेसोलिथिक पिपुल आफ नार्थ इंडिया﴾पूर्वोक्त में प्रकाशित﴿

पाण्डेय जे० एन० ﴾ 1996 ﴿, ब्यूरियल प्रैक्टिसेज एंड फ्यूनरेरी प्रैक्टिसेज आफ मेसोलिथिक इंडिया ﴾पूर्वोक्त में प्रकाशित﴿

कैनेडी ए० आर०, केनेथ, स्केलटल एडाप्टेशंस आफ मेसोलिथिक हन्टर फारमर्स आफ नार्थ इण्डिया : महदहा एण्ड सराय नाहर राय कम्पेयर्ड ﴾ पूर्वोक्त में प्रकाशित ﴿

लुकाश जान आर०, पाल जे० एन० और मिश्रा वी० ﴾ 1996 ﴿, क्रोनोलाजी एंड डायट इन मेसोलिथिक नार्थ इंडिया : ए प्रीहिस्ट्री रिपोर्ट आफ न्यू ए० एम० एस० सी 14 डेल्टा डी 13 जिस्टोप वैल्यूज एंड देअर सिग्निफिकेंस ﴾ पूर्वोक्त में प्रकाशित ﴿

मिश्रा वी० एन० ﴾ 1996 ﴿, मेसोलिथिक इंडिया : हिस्ट्री एण्ड करेंट स्टेटस आफ रिसर्च ﴾ पूर्वोक्त में प्रकाशित ﴿

वर्मा पी० के० ﴾ 1996 ﴿, सबस्टेंटस इकोनामी आफ द मेसोलिथिक फाकएज रिफ्लेक्टेड इन द राक पेन्टिंग्स आफ द विन्ध्याज रीजन ﴾ पूर्वोक्त में प्रकाशित ﴿

मध्यगंगाघाटी में प्राचीनतम मानव आवास प्रारंभिक नूतन काल की पाषाण संस्कृतियों से संबंधित है जिन्हें उपकरणों के संरक्षण की स्थिति उनके तकनीक और प्रकार तथा पुरातात्त्विक सन्दर्भ के आधार पर तीन चरणों में विभाजित किया गया है :-

§1§ अनु पुरापाषाण काल

§2§ प्रारंभिक मध्यपाषाण काल

§3§ परवर्त्ती मध्यपाषाण काल

§1§ अनुपुरापाषाण काल, उच्चपूर्व पाषाण काल और प्रारंभिक मध्यपाषाण काल के संक्रमण का द्योतक है । इस चरण के अब तक 6 स्थल प्रकाश में आए हैं - प्रतापगढ़ जनपद में मन्दोह, साल्हीपुर, सुलेमान पर्वतपुर, इलाहाबाद जनपद में कुदा, अहिरी तथा बनारस में गदवा । अनु पुरापाषाण काल के इन स्थलों पर इस संस्कृति के उपकरण एक प्रकार से कड़ी मिट्टी §प्लास्टिक क्ले§ के जमावों में बिखरे हुए मिलते हैं । ये स्थल धनुषाकार झीलों से निकलने वाली नदियों के किनारे स्थित हैं । इनका भू-तात्त्विक धरातल फाफामऊ §इलाहाबाद§ के समीप गंगा के अनुभाग के तीसरे स्तर से संबंधित है जो बेलन नदी अनुभाग के चतुर्थ ग्रेवल से समीकृत किया जा सकता है, जहाँ से अनुपुरापाषाण संस्कृति के उसी प्रकार के उपकरण उपलब्ध हुए हैं जैसे गंगा के मैदान के उपरोक्त स्थलों से ।

अनुपुरापाषाण संस्कृति के उपकरणों का निर्माण विभिन्न रंगों के काला, लाल, पीला और सफेद चर्ट पत्थर पर किया गया । कुछ उपकरण चाल्सिडनी पर बने हुए भी प्राप्त हुए हैं । पूर्णत: निर्मित और प्रयुक्त उपकरणों के साथ-साथ

कोर और फलक की उपस्थिति के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इन उपकरणों का निर्माण और प्रयोग इन्हीं स्थलों पर किया गया था क्योंकि गंगा के मैदान में इन पत्थरों का मूल श्रोतनहीं था। इसलिए कोर से तब तक ब्लेड निकाला गया जब तक वह अत्यन्त छोटा नहीं हो गया। पूर्णत: निर्मित उपकरणों में पुनर्गदित ब्लेड, भूथरे ब्लेड, नाचेज, छिद्रक, ब्यूरिन, स्क्रेपर और अर्द्धचन्द्र सम्मिलित हैं।[1] उपकरणों के अतिरिक्त पाषाण पुरा सामाग्री में ब्लेड, फलक, कोर, पुनरूज्जनित फलक और चिप{छोटे टुकड़े} है। क्योंकि ये उपकरण वर्तमान स्थिति में धरातल के ऊपर हैं, इसलिए उनपर अत्यधिक रासायनिक काई है, और ये अधिकांशत: टूटे हुए हैं। इन उपकरणों से संबंधित जमाव अधिक मोटा नहीं है जिससे लगता है कि ये स्थल अस्थायी आवास के लिये ही प्रयुक्त किए गए थे। सम्भवत: ये अस्थायी अथवा ऋतुनिष्ठ आवास है।[2] इन स्थलों से जैविक अवशेष भी नहीं उपलब्ध हुए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रातिनूतन काल के अंत में और नूतन काल के प्रारंभ में मानव जनसंख्या में वृद्धि और विन्ध्यक्षेत्र की शुष्क जलवायु, भोजन और पानी की कमी के कारण पाषाण युगीन मानव भी गंगा और यमुना जैसी बड़ी नदियों को पार करके गंगा के मैदान

---

1- पाल, जे०एन० {1986}, माइक्रोलिथिक इंडस्ट्री आफ दमदमा, पुरातत्व-16, पेज 1-5।

2- पाल, जे०एन० {1984}, इपीपेलियोलिथिक साइट्स इन प्रतापगढ़ डिस्ट्रिक, उत्तर प्रदेश, मैन एंड इनवायर्मेंट, वाल्यूम-8 पेज 37-38।

में आना पड़ा जिसका प्रभाव अनुपुरापाषाण काल के ये स्थल प्रस्तुत करते हैं ।[1] प्रारंभ में मानव का प्रव्रजन अनुनिष्ठ रहा होगा लेकिन आगे चलकर गंगा के मैदान की वन सम्पदा और झीलों तथा नदियों के हरे-भरे होने के कारण यहाँ की वानस्पतिक और जैविक सम्पदा के कारण मनुष्य यहाँ स्थायी रूप से आवास बनाने के लिये उन्मुख हुआ । यही कारण है कि अनुपुरापाषाण काल में हमें स्थायी आवास के प्रमाण नहीं मिलते ।[2]

§2§ मध्य पाषाणिक स्थलों में प्रारंभिक और परवर्ती चरणों का विभाजन अज्यामितीय और ज्यामितीय लघुपाषाण उपकरणों के आधार पर किया गया है । अज्यामितीय उपकरण वाले स्थल प्रारंभिक मध्य पाषाण काल और ज्यामितीय उपकरण वाले स्थल परवर्ती मध्यपाषाण काल की संस्कृति के अंतर्गत आते हैं । अभी तक अज्यामितीय लघुपाषाण उपकरणों के 172 और ज्यामितीय लघुपाषाण उपकरणों के 21 स्थल प्रकाश में आए हैं । क्योंकि अज्यामितीय चरण के स्थलों की संख्या अधिक है । इस आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि प्रारंभिक मध्यपाषाणिक चरण में आबादी का घनत्व बढ़ गया था, लेकिन प्रारंभिक मध्य पाषाणिक चरण के इन स्थलों की संख्या शोध की अपूर्णता के कारण हो सकती है क्योंकि यदि किसी मध्य पाषाणिक स्थल से एक भी त्रिभुज या चर्तुभुज मिल जाता है

---

1- पंत, डी०और रेखा, पंत §1980§, प्रिलिमिनरी आबजरवेशन आन पोलेन फ्लोरा आफ चौपनी माण्डो §विन्ध्याज§ एंड महदहा §गंगा वैली§.

2- शर्मा, जी०आर०, मिश्रा, वी०डी०,मण्डल, डी०, मिश्रा, बी०बी० और पाल, जे०एन० §सम्पादित§ बिगनिंग आफ एग्रीकल्चर, इलाहाबाद पेज 229-230.

तब उसे ज्यामितीय वर्ग के अन्तर्गत रख दियाजाता है । यह संयोग भी हो सकता है कि सर्वेक्षण के समय ज्यामितीय उपकरण न मिले, जबकि यह स्थल ज्यामितीय लघु पाषाण उपकरणों का है । सोनघाटी में किए गए अन्वेषणों में ज्यामितीय उपकरणों की प्राचीनता उच्च पूर्व पाषाण काल तक ले जाई गई है । इसलिए ज्यामितीय और अज्यामितीय उपकरण के आधार पर मध्य पाषाणिक स्थलों को प्रारंभिक अथवा परवर्ती चरणों में विभाजित करना अब उपयुक्त नहीं रह गया है । भारत के अन्य क्षेत्रों में जैसे सतना जिले में मेहर-4 एवं आन्ध्र प्रदेश में भी उच्चपूर्व पाषाणिक सन्दर्भ में विषमबाहु त्रिभुज उपलब्ध हुए हैं । लेकिन उल्लेखनीय है कि गंगा घाटी के मध्य पाषाणिक आवासों का सम्पर्क समकालीन किसी विकसति संस्कृति से था इसके प्रमाण नहीं मिलते । यदि गंगाघाटी की यह संस्कृति परवर्ती चरण से संबंधित होती तो इसके साथ मिट्टी के बर्तन और दूसरी सामाग्रियाँ मिलती ।[1] मध्य भारत में (आदमगढ़ और भीम बैठका) तथा राजस्थान (बागोर के मध्यपाषाणिक स्थलों से पालतू पशुओं, मनकों, धातु के उपकरणोंऔर मिट्टी के उपकरणों के रूप में जो प्रमाण उपलब्ध हुए हैं उनसे यह कहा जा सकता है किउनका सम्पर्क समकालीन विकसित संस्कृतियों से था । इस आधार पर गंगा घाटी के सभी मध्य पाषाणिक स्थलों-अज्यामितीय और ज्यामितीय दोनों को प्रारंभिक मध्य पाषाणिक चरण के अन्तर्गत रख सकते हैं ।

मध्यगंगा घाटी के अधिकांश मध्यपाषाणिक स्थलों के अस्थायी आवास, जहाँ से सिर्फ लघु पाषाण उपकरण और उनके निर्माण में प्रयुक्त कोर, ब्लेड और

---

1- वर्मा, आर० के० (1987), मेसोलिथिक एज इन मिर्जापुर, इलाहाबाद ।

फलक मिलते हैं माना जा सकता है लेकिन कतिपय ऐसे स्थल प्रकाश में आए हैं जहाँ अधिक मोटा आवासीय जमाव और अत्यधिक मात्रा में मध्यपाषाणिक पुरा ामग्री अपने वास्तविक सन्दर्भ में प्राप्त हुई हैं । ऐसे स्थलों को अर्ध स्थायी आवास के अन्तर्गत रखा जा सकता है । इनमें से तीन स्थल-सराय्नाहरराय, महदहा और दमदमा के उत्खनन से उपलब्ध परिणाम तथा भू-आकृति विज्ञान के शोध के आधार पर गंगा घाटी में प्रारंभिक नूतनकाल की प्रथम मानव संस्कृति का पुनर्निर्माण किया जा सकता है ।

ऐसालगता है कि मध्यगंगाघाटी में मनुष्य के प्रथम आगमन के समय यह क्षेत्र अपने वर्तमान रूप को प्राप्त कर चुका था तथा गंगा-यमुना, गोमती और सई जैसी बड़ी नदियाँ अपने वर्तमान प्रवाह मार्गों से इस युग में भी प्रवाहित हो रही थी । यद्यपि गंगा के मैदान के प्रातिनूतन और प्रारंभिक नूतन कालीन भू-तात्विक जमावों का विस्तृत प्रामाणिक अध्ययन अभी तक नहीं हो पाया है और यहाँ के भू-तात्विक जमावों का बेलन नदी अनुभाग के जमावों से तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर इस क्षेत्र की पुरा जलवायु का कुछ अनुमान किया जा सकता है । जनसंख्या में वृद्धि के अतिरिक्त जलवायु की बढ़ती हुई शुष्कता को भी गंगाघाटी के आबाद होने का एक कारण माना जा सकता है । यहाँ की झीलों के जमावों से प्राप्त पराग विश्लेषण के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि इस क्षेत्र में सवाना जंगल की तरह घास के मैदान थे । इन घास के मैदानों के बीच कटीली झाड़ियाँ और वृक्ष रहे होंगे । बेर के प्रमाण दमदमा के उत्खनन से उपलब्ध हुए हैं । इस क्षेत्र में अभी भी स्थान-स्थान पर और मुख्यतः नदियों के किनारे ढाक और सिहोर के जंगल देखे जा सकते हैं (प्लेट-30) ।
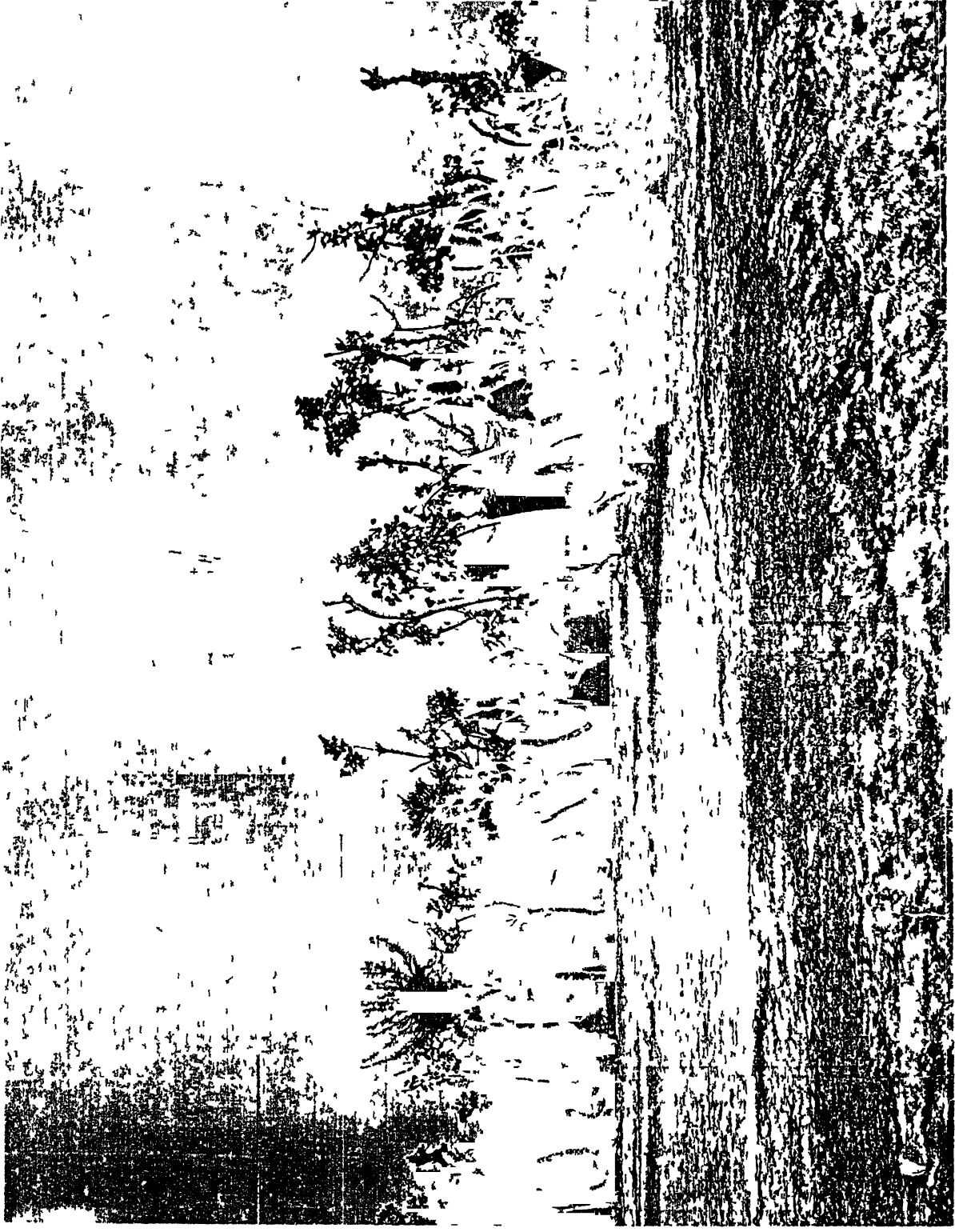
प्लेट क्रमांक - 30 - दमदमा के समीप झील का दृश्य ।

इन जंगलों और घास के मैदानों में हिरण, [illegible], नीलगाय, खरगोश और जंगली सुअर जैसे शाकाहारी जंगली पशु थे । हम अनुमान कर सकते हैं कि मानव इन पशुओं का शिकार करता था और फल, खाने योग्य जंगली अनाज कन्दमूल आदि का संग्रह करता था । धनुषाकार झीलें और उनसे निकलने वाली नदियाँ वर्षभर जल से पूरित रहती थी , जो मनुष्य और जीव दोनों के जीवन का आधार थी । मछली, कछुए, घोंघें आदि से सम्पन्न ये जलाशय भी मनुष्य की खाद्य समस्या का समाधान करते थे । इसके अतिरिक्त हाथी, गैंडे, भैंसे और सुअर जैसे जीव भी इस क्षेत्र में थे ।[1]

मध्य पाषाणिक आर्थिक और सामाजिक जीवन वर्तमान आदिम संस्कृतियों से कई दृष्टियों से साम्य रखता है । आखेट और संग्रह प्रधान मध्य पाषाणिक जीवन पद्धति वर्तमान जनजातीय कबीलों की जीवन शैली के बहुत निकट है ।

3- नवपाषाणिक संस्कृति:-

मध्य गंगा घाटी के पश्चिमी भाग में जहाँ से मध्य पाषाण संस्कृति के बहुत से स्थल प्रकाश में आये हैं अभी तक कोई नव पाषाणिक स्थल नहीं मिला है लेकिन इसके पूर्वी भाग में चिरांद, चेचर, सेनुआर, आदि स्थल प्रकाश में आये है, जिनके उत्खनन से इस संस्कृति के विविध अवयवों पर प्रकाश पड़ता है ।

---

1- पाल, जे०एन० "मेसोलिथिक सेटेलमेंट इन द गंगा वैली" मैन एण्ड इन्वायरमेंट के अंक 19, पेज 1-3, 1994 में प्रकाशित ।

चिरांद के नवपाषाणिक धरातल[1] का क्षैतिज उत्खनन नहीं किया गया है। इसलिये उनके गृह निर्माण और आवासीय अवशेषों पर अधिक प्रकाश नहीं पड़ा है। लेकिन गोलाकार या अर्द्धगोलाकार झोपड़ियों के प्रमाण उत्खनन से उपलब्ध हुये हैं। जली मिट्टी के ऐसे टुकड़े जिन पर बांस और लकड़ी के निसान है, यह बताते हैं कि इस संस्कृति के लोग झोपड़ियों की दीवाल लकड़ी और बांसे से बनाकर उन पर मिट्टी का मोटा लेप लगाते थे।

चिरांद से क्वार्टजाइट, बेसाल्ट या ग्रेनाइट पत्थरों पर बने हुए सिल, लोढ़े, हथगोले हथौड़े और कुल्हाड़ी प्राप्त हुई हैं। यहाँ की कुल्हाड़ियाँ गोलाकार हैं। इनके निर्माण के लिये सबसे पहले फलक निकाले गये हैं फिर इन्हें गढ़कर और रगड़कर अत्यन्त चिकना और पालिशदार बनाया गया है। कुछ कुल्हाड़ियों का अग्रभाग आयताकार है।

चैल्सिडनीय, चर्ट, अगेट आदि महीन कण वाले पत्थरों पर बने समानान्तर बाहु वाले ब्लेड, खुर्चनी, बाणाग्र, खचित ब्लेड, नौक, दन्तुरित नौक अर्द्ध चन्द्र छिद्रक आदि लघु पाषाण उपकरण भी यहाँ से प्राप्त हुए हैं। कुछ ज्यामितिक उपकरण भी लघुपाषाण उपकरणों में सम्मिलित हैं। घिस कर पालिश किये गये गोलाकार नव पाषाणिक कुल्हाड़ियों की संख्या चिरांद से कम है लेकिन हड्डियों एवम् मृगश्रृंगों से बने हुए विभिन्न प्रकार के उपकरण यहाँ

---

1. नारायण, एल० ए० 1970 नियो[illegible] सेटिलमेन्ट एट चिरांद, जर्नल आफ बिहार/रिसर्च सोसाइटी वाल्यूम 56, पृ० 1-35 वर्मा, बी० एस०, 1971, [illegible] एट चिरांद : न्यू लाइट इन्डियन नियोलिथिक कल्चर काम्पलेक्स, पुरातत्व नं० 4, पृ० 18-22।

से प्राप्त हुए हैं। इन उपकरणों में सुई नोक छिद्रक, पिन पुच्छल एवम् छिद्र युक्त बाणाग्र, खुर्चनी, छेनी, हथौड़ी, कुल्हाड़ियाँ आदि स[ि]म्मलित हैं।

नव पाषाणिक चिरांद की पात्र परम्पराओं के अध्ययन से भी इस संस्कृति के स्वरूप पर प्रकाश पड़ा है। लाल भूरे काले एवम् काले तथा लाल पात्र परम्परा के मिट्टी के बर्तन यहाँ से प्राप्त हुए हैं। कुछ बर्तनों के उपरी सतह को चिकने पत्थरों से काटकर चिकना और चमकीला बनाया गया है। ये पात्र मुख्यत: हस्त निर्मित हैं लेकिन कुछ ऐसे भी पात्र हैं जिन्हे साधारण चाक पर धीरे-धीरे घुमाकर बनाया गया है। बर्तनों को आलेखन विधि से अलंकृत करने अथवा पका लेने के बाद उन्हें खरोचकर अलंकृत करने का प्रमाण भी प्राप्त होता है। एक पात्र पर सोलह तीलियों वाले धुरी युक्त चक्र का आरेखण उल्लेखनीय है। भूरे रंग के बर्तनों पर पका लेने के बाद लाल गेरू रंग से चित्र बनाये गये हैं। चित्रित अभिप्रायों में एक दूसरे को आर-पार काटती रेखायें, संकेन्द्रित वृत्त और लहरदार रेखायें सम्मिलित हैं। एक पात्र खण्ड पर बिन्दुओं से त्रिशूल का चित्र बनाया गया है। लाल गेरू से चित्रित ये अभिप्राय कभी-कभी लाल तथा काले और काल पात्र परम्परा के बर्तनों पर भी प्राप्त होते हैं चिरांद से एक पात्र खण्ड ऐसा प्राप्त हुआ है जिस पर चटाई की छाप है। बर्तन आकारों में चौड़े अथवा संकरे मुह वाले गोलाकर घड़े, टोंटी दार घड़े, आधार वाले कटोरे, छिद्रयुक्त, होठदार अथवा टोंटीदार कटोरे और लम्बे तथा छोटे नलीदार टोंटी के बर्तन सम्मिलित है।

चिरांद के नवपाषाण कालीन लोगों के कलात्मक अभिरूचि को अभिव्यक्त करने वाले उपादानों में उपरत्नोंपर बने हुए सुन्दर मनके हड्डी के कुण्डल और झुमके, मिट्टी तथा हड्डी की चूड़ियाँ, कूबड़ वाले बैल, चिड़िया तथा नाग की मृणमूर्तियों का उल्लेख किया जा सकता है ।

अन्य नवपाषाणिक संस्कृतियों की ही तरह चिरांद की नवपाषाणिक संस्कृति की अर्थव्यवस्था खेती और पशुपालन पर आधारित थी । जली मिट्टी के टुकड़ों में धान की भूसी के प्रमाण प्राप्त हुए हैं । धान के अलावा गेहूँ, जौ,मूँग और मसूर से भी यहाँ के लोगों का परिचय था । गाय बैल और भैंस की हड्डियाँ भी उत्खनन में प्राप्त हुयी है । जो इनके पालतू पशु रहे होंगे । इसके अतिरिक्त हाथी,गैंडा, हिरन तथा बारहसिंघा आदि जंगली जानवरों की हड्डियाँ भी उत्खनन में प्राप्त हुयी हैं ।

पूर्वी मध्य गंगा घाटी की इस नवपाषाण संस्कृति की विन्ध्य क्षेत्र की नवपाषाणिक संस्कृति से तुलना करने पर हमें कुछ मनोरंजक तथ्य प्राप्त होते हैं । विन्ध्य क्षेत्र में नवपाषाण संस्कृति के कई स्थलों का उत्खनन किया गया है । बेलन घाटी में कोल्डिहवा, पंचोह, और महगड़ा, के उत्खनन से इस संस्कृति में गोलाकार नव पाषाणिक कुल्हाड़ियाँ, सिल लोढ़े, लघुपाषाण उपकरण मिट्टी के मनके, हड्डी के बने बाणाग्र और गोलाकार अथवा अण्डाकार झोपड़ियों के प्रमाण प्राप्त हुए हैं । यहाँ के लोग धान की खेती करते थे और गाय, बैल, भेड़,बकरी, घोड़े आदि पशुओं को पालते थे । पाषाण उपकरणों के अध्ययन और पालतू तथा जंगली गाय, बैलों, भेड़, बकरी के साथ-साथ मिलने के आधार पर यह माना गया है कि विन्ध्य क्षेत्र की नव पाषाण

संस्कृति ने स्थानीय जंगली पशुओं को ही पालतू बनाया यहाँ से उपलब्ध कार्बन तिथियों के आलोक में धान की सर्वप्रथम प्रारम्भ करने का भी श्रेय विन्ध्य क्षेत्र की संस्कृति को है । इस संस्कृति को पाँचवी-छठी शताब्दी का समय प्रदान किया गया है ।

विन्ध्य क्षेत्र के नव पाषाण संस्कृति की पात्र परम्परायें पूर्णतः हस्त निर्मित हैं यहाँ की कुछ पात्र परम्परा के बर्तनों के ऊपरी सतह पर रस्सी की छाप अथवाकछुए की हड्डी से पीटकर अलंकृत किया गया है और कुछ की ऊपरी सतह को खुरदरा बनाया गया है ।[1] कुछ पात्रों के ऊपरी सतह को घोटकर चिकना और चमकीला किया गया है । पात्रों को घोटकर चिकना बनाने की प्रथा से दोनों संस्कृतियों का परिचय था । एक ही तरह के घड़े और कटोरे तथा टोंटी दार बर्तन भी दोनों संस्कृतियों से प्राप्त हुए हैं । दोनों संस्कृतियों के नव पाषाणिक कुल्हाड़ियों में साम्य है और एक ही तरह के लघुपाषाण उपकरण भी प्राप्त होते हैं । चिरांद में पात्रों को पकाने के बाद चित्रित किया गया है लेकिन विन्ध्य क्षेत्र में पात्रों को पकाने के बाद चित्रित करने की परम्परा नहीं थी और न तो उन्हें पकाने के बाद खरोचकर अलंकृत ही किया गया था। चिरांद में मिलने वाली मृणमूर्तियाँ भी महगडा, कोलडिहवा और पंचोह से नहीं मिली हैं । हड्डियों के बने उपकरणों की संख्या भी विन्ध्य क्षेत्र में अधिक नहीं है ।

---

1. पाल, जगन्नाथ, 1977 नवपाषाणिक संस्कृतियाँ, डा० राधा कान्त वर्मा द्वारा लिखित भारतीय प्रागैतिहासिक संस्कृतियाँ, पृ० 278-79

रस्सी अथवा कछुए की हड्डी की छाप वाले मिट्टी के बर्तन जो विन्ध्य क्षेत्र की संस्कृति का चारित्रिक लक्षण है चिरांद में बिल्कुल नहीं मिलते । उपरोक्त विश्लेषण से यही प्रतीत होता है कि चिरांद की नवपाषाण संस्कृति अधिक विकसित है जबकि विन्ध्य क्षेत्र की यह संस्कृति अभी भी शैशवावस्था में है[1] ।

<u>सेचर कुतुबपुर</u>:- यह स्थल बिहार में गंगा के दाहिने तट पर स्थित वैशाली जनपद में है । इसका उत्खनन भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण के आर० एन० विष्ट द्वारा सन् 1977 - 78 ई० में किया गया था[2] । यहाँ के उत्खनन से तीन संस्कृतियों के प्रमाण उपलब्ध हुए हैं जिनमें सबसे प्राचीन - प्रथम सांस्कृतिक काल को तीन उप सांस्कृतिक कालों - प्रथम - ए, प्रथम - बी, प्रथम - सी में विभाजित किया गया है । प्रथम ए उपसांस्कृतिक काल से उसी प्रकार की नवपाषाणिक पुरा - सामग्री उपलब्ध हुई है जैसा कि चिरांद के नवपाषाणिक स्थल { प्रथम सांस्कृतिक काल/जमाव } से मिली है ।

<u>ताराडीह</u> :- यह स्थल बिहार के गया {बोधगया} जिले में प्रसिद्ध महाबोधि मंदिर के दक्षिण-पश्चिम दिशा में स्थित एक ऊँचे टीले के रूप में मिलता है । इस स्थल का उत्खनन बिहार राज्य पुरातत्व निदेशालय के डॉ० अजीत कुमार प्रसाद द्वारा सन् 1981-82 से किया जा रहा है[3] । यहाँ के उत्खनन से भी बहु-सांस्कृतिक

---

1. मिश्र, वी० डी० 1947, <u>समएसपेक्टस आफ इण्डियन आर्क्योलाजी</u>, पृ० 106 - 116 ।
2. <u>इण्डियन आर्कियोलाजी : ए रिव्यू</u> 1977 - 78, पेज 17 - 18 ।
3. <u>इण्डियन आर्कियोलाजी : ए रिव्यू</u> {1981-82} पेज 10 - 12

जमाव प्राप्त होता है जो नव पाषाणकाल से लेकर ऐतिहासिक काल तक का है। यहाँ नव पाषाणकालीन धरातल का उद्घाटन सन् 1984-85 ई0 के उत्खनन से हुआ है। लगभग 60 सें0मी0 मोटे नव पाषाणिक (प्रथम सांस्कृतिक काल) के स्तर से हाथ के बने मिट्टी के बर्तन, नव पाषाणिक कुल्हाड़ियाँ, लघु पाषाण उपकरण, हड्डी के उपकरण जली मिट्टी की सामग्रियाँ और बाँस-बल्ली के निशान से युक्त जली मिट्टी के टुकड़े विभिन्न आकार के चूल्हे आदि मिले हैं।

<u>सेनुआर :-</u> बिहार के रोहतास जिले में यह स्थल कैमूर की पहाड़ियों के निकट है। इस स्थल को प्रकाश में लाने का श्रेय बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के पुरातत्वविदों को है। इस क्षेत्र में सन् 1986-87 ई0 में किये गये पुरातात्विक अन्वेषणों में प्र[illegible] कृषिपरक संस्कृति के कई स्थल कैमूर के पास मैदान क्षेत्र से प्रकाश में आये हैं जिनमें से सेनुआर नामक स्थल का उत्खनन बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के वी0 पी0 सिंह ने किया[1]। कुदरा नामक छोटी नदी के तट पर स्थित इस स्थल के उत्खनन से भी कई संस्कृतियों के प्रमाण उपलब्ध हुए हैं, जो क्रमशः प्रथम - नवपाषाणिक, द्वितीय - ताम्र पाषाणिक, तृतीय - एन0 बी0 पी0 वेयर, चतुर्थ - कुषाण कालीन हैं। प्रथम नव पाषाणिक सांस्कृतिक काल को प्रथम - ए, प्रथम - बी, दो उपकालों में विभाजित किया गया है, क्योंकि प्रथम बी उपकाल के सांस्कृतिक काल से ताँबे के प्रमाण उपलब्ध हुए हैं। इसलिए उसे नव पाषाण और ताम्र पाषाणिक काल के संस्कृति के संक्रमण से संबंधित

---

1• सिंह, वी0 पी0 (1988) अर्ली फार्मिंग कल्चर्स इन कैमूर फूट हिल्स, शांति निकेतन में भारतीय पुरातत्व परिषद के वार्षिक सम्मेलन में पढ़ा गया शोध-पत्र।

किया गया है । गंगा के मैदान और विन्ध्य की पहाड़ियों के मध्यवर्ती क्षेत्र में स्थित इस स्थल के उत्खनन में हड्डी पर बने हुए उपकरण और पात्र परम्पराओं के उल्लेखनीय प्रमाण उपलब्ध हुए हैं[1] ।

सोहगौरा :- नव पाषाणिक संस्कृति के प्रमाण सोहगौरा के निचले धरातल से भी मिले हैं । यह स्थल उत्तर प्रदेश के गोरखपुर जनपद में आमी और राप्ती नदियों के संगम पर स्थित है । इस स्थल का उत्खनन गोरखपुर विश्वविद्यालय के डा० एस० एन० चतुर्वेदी ने सन् 1962-63 और सन् 1975-76 ई० में किया था[2,3] ।

इमलीडीह :- यह स्थल गोरखपुर जनपद के दक्षिण पश्चिम भाग में घाघरा की सहायक कुमायूँ नदी के बाएँ तट पर स्थित है । इस क्षेत्र का सर्वेक्षण सन् 1990 - 91 ई० में प्रारम्भ हुआ[4] । यह आवासीय स्थल गोरखपुर से लगभग 40 कि०मी० दक्षिण में गोरखपुर रोड पर स्थित है । इमलीडीह और इस क्षेत्र के अन्य स्थलों

---

1. सेनुआर से बड़ी मात्रा में प्राप्त हड्डी के उपकरणों की माइक्रोवियर एनालिसिस डा० गायत्री चतुर्वेदी बनारस ने किया है ।
2. इण्डियन आर्कियोलाजी : ए रिव्यू (1975-76) पेज 46-47
3. चतुर्वेदी एस० एन० (1988) एडवांस आफ [illegible] नियोलिथिक एण्ड चाल्को- लिथिक कल्चर टू द हिमालयन तराई, इक्सकेवेशन एण्ड एक्सप्लोरेशन इन सरयू पार रीजन आफ यू०पी०, मैन एण्ड इनवायरमेन्ट के अंक नौ, पृ० 101-108 ।
4. सिंह पुरुषोत्तम और अन्य (1990-91), एक्सप्लोरेशन एलांग कुआनो रीवर इन डिस्ट्रिक्ट गोरखपुर एण्ड बस्ती, प्राग्धारा, अंक - ।

पर किये गये सर्वेक्षण से बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के डॉ0 पुरुषोत्तम सिंह को एक ताम्र पाषाणिक संस्कृति के प्रमाण मिले जिसे उन्होंने नरहन संस्कृति का नाम दिया। सन् 1992 ई0 में इमलीडीह में किये गये उत्खनन में प्राक नरहन संस्कृति (नव पाषाणिक संस्कृति) के प्रमाण उपलब्ध हुए हैं जिसमें हाथ से बने हुए रस्सी के छाप वाले मिट्टी के बर्तन और अन्य पुरासामग्रियाँ सम्मिलित हैं।

मध्य गंगाघाटी के मैदानी क्षेत्र के उत्खनित स्थलों - चिरांद, चेचर कुतुबपुर, सेनुवार, ताराडीह, सोहगौरा, इमलीडीह आदि स्थलों से नवपाषाण संस्कृति पर प्रकाश डालने वाले प्रमाण उपलब्ध हुए हैं और बहुत सम्भव है कि उस क्षेत्र में सर्वेक्षण से अन्य स्थल भी प्रकाश में आएँ जो अभी भी जलोढ मिट्टी के नीचे दबे हों अथवा परवर्ती आवासीय जमाव के नीचे पड़े हों। ऐसा प्रतीत होता है कि मैदानी क्षेत्र के स्थलों पर नव पाषाण कालीन मानव के आगमन से पूर्व घने जंगल विद्यमान थे, जो बाद में कृषि के लिए अथवा चरागाहों के लिए साफ किए गए। जंगलों को साफ करने के लिए संभवतः आग का प्रयोग भी किया गया था। चिरांद जिस जिले में स्थित है उसके सारन नाम के आधार पर रेवा रे का कथन है कि इसके हिरण अर्थ के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह क्षेत्र जंगलों से घिरा था, जिसमें हिरण अत्यधिक संख्या में रहते थे।

नव पाषाणिक पालिसदार कुल्हाड़ियाँ और हथौड़े, सिल-लोढ़े आदि उपकरण क्वार्टजाइट, बेसाल्ट तथा ग्रेनाइड पत्थरों पर निर्मित किए गए हैं। इस क्षेत्र के नव पाषाणकालिक लघु पाषाण उपकरणों केउद्भव के लिए मध्य पाषाणिक संस्कृति को उत्तरदायी माना जा सकता है, जिसके अन्तर्गत समानान्तर भुजाओं

वाले ब्लेड, स्क्रेपर, प्वाइन्ट, ब्लेड, खाचों वाले ब्लेड, छिद्रक और ज्यामितीय एवं अज्यामितिय उपकरण हैं । इन उपकरणों का निर्माण चाल्सिडनी, जेस्पर, अगेट, चर्ट आदि पत्थरों पर किया गया है । कोर और उपकरण निर्माण के लिए प्रस्तर पिण्ड की [illegible] के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इन उपकरणों का निर्माण इन्हीं स्थलों पर किया गया था । चिरांद से प्राप्त लघु पाषाण उपकरणों के श्रोत के बारे में यह अनुमान लगाया गया है कि चिरांद के समीपवर्ती सोन नदी की तलहटी से प्रस्तर पिण्ड एकत्रित किए गये थे । चिरांद से दक्षिण-पूर्व एक किलोमीटर की दूरी पर स्थित हल्दी छपरा स्थल जहाँ सोन नदी गंगा से मिलती है बालू के जमावों में विभिन्न आकार-प्रकार के प्रस्तर पिण्ड प्राप्त होते हैं । चिरांद के नवपाषाण कालीन मानव के लिए उपकरण निर्माण के पत्थरों का श्रोत संभवत: यही था ।

चिरांद की नवपाषाणिक पात्र परम्परा में मुख्यत: हाथ से बने हुए मिट्टी के बर्तन सम्मिलित हैं । लेकिन कभी-कभी धीमी गति से चलने वाले चाक ॥ टर्न-टेबिल ॥ पर बने हुए बर्तन भी प्राप्त हुए हैं । यद्यपि मुख्य पात्र परम्परा लाल रंग की है, लेकिन भूरे, काले और कृष्ण लोहित पात्र परम्परा के बर्तन भी मिलते हैं । चिरांद के नव-पाषाणकालीन संस्कृति के मानव को कष्ण लोहित बर्तनों के निर्माण की औंधी ॥इनवर्टेड॥ तकनीक का पता था लेकिन इनके पात्र प्रकार ताम्र पाषाणिक कृष्ण लोहित पात्र प्रकारों से भिन्न हैं । बहुत से पात्रों के ऊपरी सतह पर चमकदार लेप मिलते हैं । बर्तनों के ऊपरी सतह पर रस्सी की छाप अथवा खुरदरी सतह प्राप्त होती है ।

प्रमुख पात्र प्रकारों में बड़े मुंह और संकरे गले के घड़े टोंटीदार घड़े, होठयुक्त कटोरे, छिद्र युक्त और पैर युक्त कटोरे, साधार कटोरे, छोटे आकार के बर्तन, चम्मच, करछुल आदि सम्मिलित हैं। बर्तनों को पका लेने के बाद इन पर रंग से अथवा रेखाएं उत्कीर्ण करके चित्र बनाये गए हैं। चित्रित अभिप्रायों में अर्द्धवृत्त, लहरदार रेखाएं आदि सम्मिलित हैं। टोंटीयुक्त बर्तनों का प्रयोग सम्भवतः पानी और अन्य द्रव पदार्थों के लिए किया जाता था, जबकि संकरे मुंह वाले बड़े बर्तन अनाजों के संग्रह के लिए प्रयुक्त किये जाते रहे होंगे। चिरांद के उत्खनन में प्लेट या तस्तरी जैसे बर्तनों की संख्या बहुत कम है। जबकि कटोरे हांडी, और टोंटीदार बर्तन अधिक हैं। इस आधार पर यह अनुमान किया गया है कि इस क्षेत्र का नव-पाषाणकालीन संस्कृति का मानव अपने भोजन में तरल पदार्थों का अधिक प्रयोग करता था[1]।

हड्डी के बने उपकरणों और मनकों से भी मध्य गंगा घाटी में नव-पाषाणकालीन मानव के विशिष्ट उद्योगों का पता चलता है। क्योंकि गंगा के मैदान में उपकरण निर्माण के लिए पत्थरों की कमी थी, इसलिए बड़े पैमाने पर पशुओं की हड्डियों और हिरन की सींगों पर उपकरणों का निर्माण किया गया। हड्डी पर बने उपकरणों में स्क्रेपर, छिद्रक, छेनी, हथौड़ा, सूई, प्वाइंट

---

1. प्रसाद, ए० के० [1997] ए नोट आन द फूड हेबिट्स आफ द नियोलिथिक पिपुल आफ द बिहार, इण्डियन प्रीहिस्ट्री, 1980, सम्पा० मिश्र वी०डी० एवं पाल जे० एन०, पेज 161-162 ।

भालाग्र और वाणाग्र आदि उपकरण सम्मिलित हैं । बैल की एक कंधे की हड्डी का प्रयोग बेलचे के रूप में किया गया है । इतने प्रचुर मात्रा में हड्डी के उपकरण का प्रयोग भारतीय नव-पाषाणिक संदर्भ में सिर्फ बुर्जहोम में दिखाई पड़ता है । लेकिन दोनों क्षेत्रों में उपकरणों के प्रकार अलग-अलग हैं । चिरांद के नव-पाषाणि मानव ने लटकन, चूड़ियाँ, चर्खी की तरह के आकार का और कंघी जैसे आभूषण हड्डी और कछुए की सींग के बने हुए प्राप्त हुए हैं । कलसिडनी, अगेट, जैसपर, मारबुल, स्टेएटाइट और फयांस के बने हुए विभिन्न प्रकार के मनके भी उपलब्ध हुए हैं । विभिन्न प्रकार की पुरासामग्रियों से चिरांद के नव-पाषाणकालिक मानव के उत्कृष्ट शिल्प पर उल्लेखनीय प्रकाश पड़ा । प्राकृतिक सामग्रियों पर उनकी कला निर्भर थी । विभिन्न प्रकार के वस्तुओं के निर्माण में मिट्टी का बड़े पैमाने पर प्रयोग किया गया । सहज उपलब्धता और मैदान क्षेत्र के मिट्टी के लचीलेपन के कारण इसे सामग्रियों के निर्माण के लिए प्रयुक्त किया गया । मिट्टी की बनी हुई कूबड़युक्त बैल की मूर्तियाँ, पक्षी, मनके, हथगोले, गोले और अन्य सामग्रियाँ उपलब्ध हुई हैं । एक छिद्र युक्त बेलनाकार मिट्टी की वस्तु जिस पर धुँआ लगा हुआ है कि पहचान उत्खनन कर्ता ने स्मोकिंग पाइप के रूप में किया है ।

मैदानी क्षेत्र का नव-पाषाणिक मानव नदियों के तट पर बाढ़ सीमा से उपर अपने आवासों का निर्माण करता था, क्योंकि चिरांद पर उत्खनन उर्ध्वाधर हुआ, जिससे सीमित क्षेत्र में किया गया । इसलिए आवास का पूरा प्रमाण उपलब्ध नहीं हो सका । सिर्फ कुछ गोलाकार दो मीटर व्यास वाले एक-दूसरे के पास स्थित झोपड़ियों के फर्श प्राप्त हुए हैं । संभवत: इन गोलाकार झोपड़ियों की छत कोणाकार थी, जिसमें दलदली भूमि में प्राप्त होने वाले नरकुल का प्रयोग किया गया था ।

भालाग्र और वाणाग्र आदि उपकरण सम्मिलित हैं । बैल की एक कंधे की हड्डी का प्रयोग बेलचे के रूप में किया गया है । इतने प्रचुर मात्रा में हड्डी के उपकरणों का प्रयोग भारतीय नव-पाषाणिक संदर्भ में सिर्फ बुर्जहोम में दिखाई पड़ता है । लेकिन दोनों क्षेत्रों में उपकरणों के प्रकार अलग-अलग हैं । चिरांद के नव-पाषाणिक मानव ने लटकन, चूड़ियाँ, चर्खी की तरह के आकार का और कंघी जैसे आभूषण हड्डी और कछुए की सींग के बने हुए प्राप्त हुए हैं । कलसिडनी, अगेट, जेसपर, मारबुल, स्टेएटाइट और फयांस के बने हुए विभिन्न प्रकार के मनके भी उपलब्ध हुए हैं । विभिन्न प्रकार की पुरासामग्रियों से चिरांद के नव-पाषाणकालिक मानव के उत्कृष्ट शिल्प पर उल्लेखनीय प्रकाश पड़ा । प्राकृतिक सामग्रियों पर उनकी कला निर्भर थी । विभिन्न प्रकार के वस्तुओं के निर्माण में मिट्टी का बड़े पैमाने पर प्रयोग किया गया । सहज उपलब्धता और मैदान क्षेत्र के मिट्टी के लचीलेपन के कारण इसे सामग्रियों के निर्माण के लिए प्रयुक्त किया गया । मिट्टी की बनी हुई कूबड़युक्त बैल की मूर्तियाँ, पक्षी, मनके, हथगोले, गोले और अन्य सामग्रियाँ उपलब्ध हुई हैं । एक छिद्र युक्त बेलनाकार मिट्टी की वस्तु जिस पर धुआँ लगा हुआ है कि पहचान उत्खनन कर्ता ने स्मोकिंग पाइप के रूप में किया है ।

मैदानी क्षेत्र का नव-पाषाणिक मानव नदियों के तट पर बाढ़ सीमा से ऊपर अपने आवासों का निर्माण करता था, क्योंकि चिरांद पर उत्खनन उर्ध्वाधर हुआ, जिससे सीमित क्षेत्र में किया गया । इसलिए आवास का पूरा प्रमाण उपलब्ध नहीं हो सका । सिर्फ कुछ गोलाकार दो मीटर व्यास वाले एक-दूसरे के पास स्थित झोपड़ियों के फर्श प्राप्त हुए हैं । संभवत: इन गोलाकार झोपड़ियों की छत कोणाकार थी, जिसमें दलदली भूमि में प्राप्त होने वाले नरकुल का प्रयोग किया गया था ।

के संग्रह से धान की खेती का प्रारम्भ हुआ । लगता है कि धान की खेती का प्रारम्भ चिरांद, कोल्हिवा तथा महगडा में हुआ, जहाँ से जंगली और पालतू दोनों अवस्था का धान प्राप्त हुआ है । अन्य खाद्यान्नों के उद्भव के बारे में निश्चित प्रमाण नहीं है । मूँग का आदि क्षेत्र भारत को माना जाता है । उत्तर प्रदेश के तराई क्षेत्र में जंगली प्रजाति की एक मूँग उत्पन्न होती है । जो संभवत: पश्चिमी एशिया से आयी थी । जिसके प्रमाण उत्तर भारत और पश्चिमी भारत से मिले हैं । हड़प्पन स्थलों के अतिरिक्त जो अतरंजी खेड़ा से प्राप्त हुआ है । पश्चिमी एशिया में जो औरगेहूँ साथ-साथ पैदा किये जाते थे । ट्रेटिकम स्फेरोकोकम नामक गेहूँ की प्रजाति के प्रमाण मोहन जोदड़ों के उत्खनन से उपलब्ध हुए हैं । संभवत: यह प्रजाति भारतीय उपमहाद्वीप के उत्तर-पश्चिमी भाग में उद्भूत हुई थी । भारत में इसगेहूँ की खेती बड़े पैमाने पर की जाती थी, फिर भी गेहूँ, जो और मूँग जो चिरांद के उत्खनन में प्राप्त हुए हैं उनके उद्भव के बारे में निश्चय के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता ।[1] ऐसा लगता है कि चिरांद के नव-पाषाणिक मानव को कृषि चक्र के बारे में पूरी जानकारी थी । क्योंकि धान जैसी खरीफ की फसलें और गेहूँ, जो, मूँग जैसी रवि के फसलों के प्रमाण प्राप्त हुए हैं । संभवत: बरसात के तुरन्त बाद नम भूमि में बीज बो दिये जाते थे और लघु पाषाणों से निर्मित हँसिये जैसे उपकरणों से फसल पक जाने पर काट लाता था । संभवत: कृषि बहुत प्राथमिक प्रकार की थी । गदाशीर्ष का प्रयोग जमीन खोदने के लिये लकड़ी में किया जाता था ।

---

1- विष्णु मित्रे (1972), नियोलिथिक प्लान्ट एकोनामी एट चिरांद द पैलियोबाटनिस्त, परातत्व नं0 1, पेज 18-21 ।

चिरांद से उपलब्ध अनाजों से ऐसा प्रतीत होता है कि नव-पाषाणिक मानव जंगल की सफाई से लेकर फसल कटने तक के कृषि संबंधी विभिन्न क्रिया - कलाप से सुपरिचित थे। सर्वप्रथम नव-पाषाणिक मानव ने कृषि के लिये जंगली भूमि को साफ किया होगा। संभवत: यह कार्य सामूहिक रूप से किया जाता रहा होगा। वृक्षों और पौधों को काटने का एक मात्र उपयुक्त उपकरण प्रस्तर की कुल्हाड़ी थी। लेकिन उल्लेखनीय है कि चिरांद के उत्खनन से सिर्फ चार कुल्हाड़ियाँ उपलब्ध हुई थी। जिससे लगता है कि जंगल की सफाई के लिए बड़े पैमाने पर उनका प्रयोग नहीं किया गया था। संभवत: इसके लिये उन्होंने आग का प्रयोग किया था। आग के प्रयोग से सभी वनस्पतियाँ जलकर राख हो गयी होगी जो मिट्टी में मिलकर उसकी उर्वरा शक्ति में वृद्धि की होगी।

पहाड़ी क्षेत्रों की आदिम जातियाँ इस तरह के कार्य झूम कृषि में करते हैं। कृषि में दूसरे चरण में जमीन की जुताई की जाती थी, जिसके लिए लकड़ी से निर्मित प्रारम्भिक/आदिम प्रकार के खोदने वाले उपकरणों का प्रयोग किया जाता था। झूम कृषि में भी इस तरह के लकड़ी के उपकरणों का प्रयोग किया जाता था। लेकिन उत्खननों से लकड़ी से निर्मित इस प्रकार के उपकरण उपलब्ध नहीं हैं। यहाँ की जलवायु ऐसे अवशेषों को सुरक्षित नहीं बचा सकी। खोदने वाली लकड़ी के निशान जैसे प्रमाण चिरांद के उत्खनन से नहीं मिले हैं। तीसरे चरण में बीज बोया जाता था। बोने का कार्य मानसून की वर्षा से प्रारम्भ होता था। इसके उपरान्त जबतक फसल पक नहीं जाती थी।

होगा ।[1]

नवपाषाणिक चिरांद के धरातल से अर्थ-व्यवस्था में मछली पकड़ने का भी महत्वपूर्ण स्थान था । उत्खनन से मछली, सीपी, घोंघे आदि की हड्डियाँ प्रचुर मात्रों में उपलब्ध हुई हैं । झीलों और नदियों से ये मछलियाँ पकड़ी जाती थी । उत्खनन में पक्षियों की हड्डियाँ भी मिली हैं । जंगली क्षेत्रों से खाने योग्य वनस्पतियाँ भी एकत्र की जाती थी । इस प्रकार विभिन्न श्रोतों से उपलब्ध संतुलित आहार नव-पाषाणिक लोगों को उपलब्ध था ।

उत्खनन से उपलब्ध उपकरणों में कोई भी उपकरण ऐसा नहीं है, जिसे हाथी, गैंडे या भैंसे जैसे बड़े जानवरों के शिकार के लिये प्रयुक्त किया जा सके । संभवतः इन पशुओं का शिकार अन्य विधियों जैसे गहरे पानी आदि में पशुओं को धकेल कर किया जाता रहा होगा अथवा गड्ढे खोदकर उनके ऊपर घास-फूस डालकर उसमें उन्हें फँसा दिया जाता रहा होगा । छोटे पशुओं और पक्षियों के शिकार के लिए हड्डियों और पत्थरों के बाणाग्रों का प्रयोग किया जाता था । पकी मिट्टी के गोले, हँथगोले के रूप में प्रयुक्त किये जाते थे । बड़ी मात्रा में मछलियों की हड्डियाँ उपलब्ध हुई है, लेकिन न तो हार्पून और न ही मछली पकड़ने की कटिया ही उपलब्ध हुई है । चिरांद के उत्खनन कर्ता के अनुसार सूजे जैसे हड्डी के उपकरण मछली

---

1- नाथ बी० और विश्वास एम० के०, 1980, एनीमल्स रिमेन्स फ्राम चिरांद, सारण डिस्टिक्ट, बिहार, रिकार्ड्स आफ द जियोलोजिकल सर्वे आफ इण्डिया, पेज 115-124.

तब तक उसकी देख भाल की जाती थी और अन्त में फसल के काटने का कार्य होता था । फसल के काटने में भी तकनीकि प्रक्रिया और उपकरणों की आवश्यकता थी । ऐसा संकेत किया गया है कि उत्खनन से उपलब्ध लघु पाषाण उपकरणों से संग्रथित करके काटने वाले हंसिये जैसे उपकरण निर्मित किए गए थे । ब्लेड जैसे उपकरणों का प्रयोग हंसिये के रूप में किया जाता था । यह भी संभव है कि पकी हुई फसल को जड़ से उखाड़ लिया जाता और फसल को पीटकर दाने अलग कर लिए जाते रहे हों । इसके उपरान्त सिल-लोढ़े से अनाज के दाने अलग किए जाते रहे होंगे

गंगा के मैदान में नव-पाषाणिक काल में कृषि द्वारा खाद्य उत्पादन के प्राचीनतम प्रमाण चिरांद के उत्खनन से उपलब्ध हुए हैं । जैसा कि बड़ी संख्या में पशुओं की हड्डियों से प्रतीत होता है कि नव-पाषाणिक मानव के भोजन का एक बड़ा भाग पशुओं का मांस था । जिन पशुओं की पहचान की गई है - उनमें बकरी, सुअर, भैंसा, गैंडा, हिरण बैल आदि सम्मिलित हैं । सबसे अधिक संख्या में हिरण की हड्डियाँ प्राप्त हुई हैं, इसके उपरान्त भैंसे, बैल, सुअर और बकरी की हड्डियाँ आती हैं । पालतू पशुओं में कूबड़युक्त बैल [illegible], भैंस ﴾बबुलस बुबलिस﴿, भेड़ ﴾ओबिस ऐरिस﴿, बकरी ﴾कैप्राहिरकस﴿, सुअर﴾सुडोमोस्किस﴿ और कुत्ता ﴾कैनिस फैमिलियारिस﴿ सम्मिलित हैं । जंगली पशुओं के अन्तर्गत गैंडा ﴾रैनोसेरस यूनीकारनिस﴿ हाथी ﴾एलिफस मैक्सम﴿, हिरण ﴾सर्वस वासैली﴿, चीतल ﴾[illegible] एक्सिस﴿ आदि सम्मिलित हैं । क्योंकि अधिकांश हड्डियों पर काटने के निशान हैं, इससे लगता है कि इन पशुओं को मांस के लिए काटा गया

के पकड़ने के जाल बनाने में प्रयुक्त होते थे और पकी मिट्टी की गोलियों का प्रयोग जाल को पानी में डुबोने के लिये किया जाता था। मछलियों को पकड़ने के लिए विभिन्न प्रकार के जालों या धनुष-बाणों का प्रयोग किया जाता रहा होगा। जैसे कि इस समय भी कुछ आदिम जनजातियाँ इस प्रकार के तरीकों का प्रयोग करती हैं। कुछ आदिम जातियों में मछलियों को मारने के लिये पानी में जहरीली वनस्पतियों के तत्व मिलाये जाते रहें होंगें।[1]

यद्यपि मध्य गंगा घाटी में पुरास्थलों के उत्खनन से नव पाषाणिक धरातल बहुत सीमित क्षेत्र में प्रकाश में आ सका है, लेकिन उपलब्ध प्रमाण के आधार पर कहा जा सकता है कि इस संस्कृति के लोग बाँस-बल्ली और घास-फूस की गोलाकर झोपड़ियों का निर्माण करते थे। स्तम्भगर्त और बाँस-बल्ली से बनी दीवालों के प्रमाण इन उत्खननों से उपलब्ध हुये हैं। चिरांद के उत्खनन से अठ्ठारह गोलाकर आवास का प्रमाण मिला है। उल्लेखनीय है कि गर्त आवास परम्परा उत्तर भारत की कश्मीर घाटी की नव पाषाणिक संस्कृति में अधिक प्रचलित थी।

नव पाषाण कालीन संस्कृति के अर्थव्यवस्था में शिकार, संग्रह और मछली पकड़ने के महत्वपूर्ण स्थान थे। उपजाऊ जलोद मिट्टी के क्षेत्र में उनकी स्थिति तथा खरीफ और रबी के फसलों के आधार पर कृषि का भी महत्वपूर्ण योगदान था। उन्हें जलवायु संबंधी परिस्थितियों और उनको फसलों के चक्र

---

1- नागर मालती (1997), फिशिंग एण्ड फिशिंग गेयर, ट्राइबल्स आफ द बस्तर [illegible] प्रीहिस्ट्री, 1980, पेज 210-217

का भी ज्ञान था । सम्भवतः कृषि में उनकी आवास(स्थल) प्रक्रिया का महत्वपूर्ण योगदान रहा होगा, क्योंकि अब वे अपने पूर्वजों के संचरणशील जीवन का परित्याग कर दिये और स्थायी रूप से एक स्थान पर आवास बनाने लगे । चिरांद जैसे उपयुक्त स्थल पर बाढ और अग्नि जैसे प्राकृतिक विपत्तियाँ के बावजूद एक ही स्थान पर रहते रहे । उन्होंने स्थायी आवास के लिए झोपड़ियों का निर्माण किया और गाँवों के रूप में अपने आवास (स्थल) का विकास किया । पाषाण उद्योग के स्थान पर हड्डी के उपकरण और विभिन्न प्रकार की पात्र परम्पराओं का विकास हुआ । मनके मृणमूर्तियों और आभूषणों तथा मिट्टी के बर्तनों पर चित्र के रूप में कला का विकास उल्लेखनीय है । चिरांद जैसे ही प्रमाण उस क्षेत्र के अन्य नव पाषाणिक स्थलों-चेचर, कुतुबपुर, ताराडीह, सेनुआर, इमलीडीह और सोहगौरा जैसे स्थलों से भी प्राप्त हुए हैं ।

उपलब्ध कार्बन तिथियों के आलोक में चिरांद की नव पाषाण संस्कृति विन्ध्य क्षेत्र की संस्कृति से काफी बाद की प्रमाणित होती है । चिरांद के नव पाषाणिक धरातल से कुल 9 कार्बन तिथियाँ प्राप्त हुयी हैं जिनमें से तीन तिथियाँ 1580 ± 110, 1675 ± 140 और 1755 ± 155 ई0 पू0 को उपयुक्त माना गया है[1]। नवपाषाणिक और ताम्र पाषाणिक धरातलों के सार्ध स्थल मे 1050 ± 190 ई0 पू0 की एक तिथि प्राप्त हुयी है इस आधार पर चिरांद की नव पाषाणिक संस्कृति 1800 से 1200 ई0 पू0 के मध्य रखा गया है[2]। चूँकि निचले धरातल से कोई तिथि नहीं मिली है इसलिए इस संस्कृति का प्रारम्भ 2000 ई0पू0 या इससे भी पूर्व का समय देने की संस्तुति की गयी है । यहाँ के अवसादन दर की गणना के आधार पर इस

---

1• मंडल, डी0, 1972, रेडियो कार्बन डेट्स एण्ड इण्डियन आर्क्योलाजी, पृ0 106-116

2• अग्रवाल डी0 पी0 और कुसुमगर, शीला, 1973, प्री-हिस्टोरिक क्रोनालाजी एण्ड रेडियो कार्बन डेटिंग इन इण्डिया, पृ0 71 ।

संस्कृति का प्रारम्भ और भी पहले 4000 से 3000 ई0 पू0 तक प्रस्तावित किया गया है ।

कहने की आवश्यकता नहीं कि गंगा के मैदान की इन पाषाण कालीन संस्कृतियों ने परवर्तीकालिक संस्कृतियों को ठोस आधार प्रदान किया था ।

§4§- ताम्र पाषाणिक संस्कृति :-

ताम्र पाषाणिक संस्कृति के प्रमाण मध्य गंगा घाटी में नवपाषाण संस्कृति की अपेक्षा अधिक विस्तृत क्षेत्र से उपलब्ध हुये हैं (रेखाचित्र-7)। इस संस्कृति के प्रमुख स्थलों में बिहार के सोनपुर,[1] चिरांद,[2] ओरिअप,[3] बक्सर, चेचर[4] तथा उत्तर प्रदेश के सोहगौरा,[5] प्रहलादपुर,[6] राजघाट,[7] नहुष राजा का टीला,[8]

---

1• इण्डियन आर्क्यालिजी: ए रिव्यू, 1956-57, पृष्ठ 19, 1959-60, पृष्ठ 14, 1960-61, पृष्ठ 4-5, 1961-62, पृष्ठ 4-5•

2• इण्डियन आर्क्यालिजी: ए रिव्यू, 1963-64, पृष्ठ 6-6 और 1968-69 से लेकर 1971-72 के अंक

3• वर्मा, बी0 एस0, 1969, ब्लैक एण्ड रेडवेयर इन बिहार, बी0 पी0 सिन्हा §सं0§ पाटरीज इन एंशियन्ट इण्डिया में, पृष्ठ 107•

4• इण्डियन आर्क्यालिजी: ए रिव्यू, 1977-78, पृष्ठ 17-18•

5• इण्डियन आर्क्यालिजी: ए रिव्यू, 1961-62, पृष्ठ 56, 1974-75, पृष्ठ 47•

6• नारायण, ए0 के0 और राय, टी0 एन0 1968, इक्सकेवेशन्स ऐट प्रहलादपुर पृ0 63•

7• नारायण, ए0 के0 और राय, टी0 एन0 1977, इक्सकेवेसन्स ऐट राजघाट, पृ0 23 - 25•

8• नेगी, जे0 एस0, 1975, नहुष का टीला, के0सी0 चट्टोपाध्याय मेमोरियल वाल्यूम, पृ0 51 - 56

MIDDLE GANGA PLAIN
मध्य गंगा घाटी के ताम्र पाषाणिक और प्रारम्भिक ऐतिहासिक स्थल
INDIA
Location map
RIVER GANGA PLAIN
U-UPPER
M-MIDDLE
L-LOWER
NEPAL
PIPRAHWA
GANWARIA
AYODHYA
NANDIGRAMA
GHAGHARA R
IMLIDIH
SOHAGAURA
DHURIAPAR
NARHAN
KHAIRADIH
MANJHI
CHIRAND
LAKHNESHWARDIH
BUXAR
GANDAK R
VAISALI
CHANDAHIADIH
BALIRAJGARH
KATRAGARH
KOSI
CHECHAR
KUTTUBPUR
Patna
PATALIPUTRA
KANKARBAGH
GANGA R
GHUGRI R
CHAMPA
ORIOP
MIDDLE GANGA NORTH
UPPER GANGA PLAIN
LOWER GANGA PLAIN
PRAHLADPUR
RAJGHAT
Varanasi
SARAI-MOHANA
RAJGIR
APSAD
SONEPUR
PUNPUN R
SENUWAR
SON R
MIDDLE GANGA
Index
NB-
PRE+NBPW
MODERN TOWN
0 20 80
Km
रेखाचित्र - 7

बनवारी घाट[1], गुलरिहवा घाट[2], नरहन[3], मांझी, इमलीडीह उल्लेखनीय हैं।

घाघरा नदी के उत्तर पूर्व घाघरा और गंडक नदियों के मध्य में सरयूपार क्षेत्र में गोरखपुर विश्वविद्यालय के पुरातत्वविदों ने जो सर्वेक्षण और उत्खनन किया उससे नवपाषाणिक उपकरणों की सम्भावना भी व्यक्त की गयी थी[4]। इस क्षेत्र के प्रमुख पुरातात्त्विक स्थलों में राप्ती और आमी नदियों के संगम पर स्थित सोहगौरा और कुआनो नदी के तट पर स्थित सूसीपार, रामनगर घाट, बड़ा गाँव, गेरार और लहुरादेवा उल्लेखनीय हैं जहाँ से कार्ड इम्प्रेस्ड चित्रित कृष्ण - और लोहित (पेन्टेड ब्लेक एण्ड रेड) ग्रे, ब्लेक स्लिप्ड और रेडवेयर के पात्र खण्ड लघु पाषाण उपकरणों के साथ प्राप्त हुये थे। इस क्षेत्र के अन्य महत्वपूर्ण स्थलों में बनारस हिन्दू विश्व - विद्यालय द्वारा उत्खनित बलिया जनपद में स्थित खैराडीह[5] गोरखपुर जनपद में

---

1. भट्ट, एस० के०, 1970, आक्यलोजिकल इक्सप्लोरेशन इन बस्ती डिस्ट्रिक्ट, पुरातत्व नं० 3, पृष्ठ 78 - 88.
2. भट्ट, एस० के०, 1970, आर्क्योलोजिकल इक्सप्लोरेशन इन बस्ती डिस्ट्रिक्ट पुरातत्व नं० 3, पृ० 78-88
3. सिंह पुरूषोत्तम और मक्खनलाल, 1985, नरहन 1983-84 : ए प्रिलिमिनरी रिपोर्ट, भारती (बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग की पत्रिका) न०सि०, 3, पृ० 144 - 86.
4. चतुर्वेदी, एस० एन०, 1985, एडवान्स आफ विन्ध्ययन निमोलिथिक एण्ड चैल्कोलिथिक कल्चर्स टू द हिमालयन तराई:इक्सकेवेसन्स एण्ड इक्सप्लोरेशन इन सरयूपार रीजन आफ, उ०प्र०, मैन एण्ड इनवाइरनमेन्ट वैल्यूम 9, पृ० 101-108
5. सिंह, वीरेन्द्र प्रताप, 1989, खैराडीह ए चैल्कोलिथिक सेटिलमेन्ट, मैन एण्ड इनवाइरनमेन्ट, पृ० 28 - 34

नरहन और माँझी तथा इमलीडीह आदि स्थलों का उल्लेख किया जा सकता है।[1] प्रतापगढ़ जिले की पट्टी तहसील में हाल ही में किये गये सर्वेक्षण के परिणामस्वरूप इस संस्कृति के कई स्थल प्रकाश में आये हैं। कौशाम्बी झूँसी और श्रृंग्वेरपुर स्थलों के निचले धरातल से ताम्र पाषाण संस्कृति के प्रमाण मिले हैं इन स्थलों का विवरण प्रारम्भिक एतिहासिक संस्कृति के सन्दर्भ में किया गया है। अन्य प्रमुख उत्खनित स्थलों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है।

राजघाट :- यह स्थल वाराणसी में गंगा के बायें तट पर स्थित है जिसकी पहचान प्राचीन वाराणसी (काशी) के रूप में की गयी है। इस स्थल का उत्खनन बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के ए० के० नारायण और टी० एन० राय ने कई वर्षों तक किया।[2] इन उत्खननों से 800-700 ई० पू० से लेकर

---

1- सिंह पुरुषोत्तम और मकुन्ला, 1985, नरहन, 1983-85, ए प्रिलिमिनरी रिपोर्ट, भारती (बुलेटिन आफ दी डिपार्टमेन्ट आफ एन्सिएन्ट इन्डियन हिस्ट्री कल्चर एण्ड आक्यॉलजी, बनारस हिन्दू यूनीवर्सिटी (एन० एस०), 3, पृ० 144-186.

2- नरायन ए० के० और राय टी० एन० (1976), एक्सकवेशन एट राजघाट भाग-1, बी० एच० यू०, वाराणसी, नारायण ए० के० और राय टी० एन० (1977) एक्सकवेशन एट राजघाट भाग-2, नारायण ए० के० एवं सिंह पी०, भाग-3, नारायण ए० के० और अग्रवाल पी० के०, भाग-4 (प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय की वार्षिक पत्रिका)।

परवर्ती मध्य काल तक के छः क्रमिक सांस्कृतिक चरणों के प्रमाण उपलब्ध हुए हैं ।

प्रथम सांस्कृतिक काल को 800-700 ई० पू० से लेकर 300-200 ई० पू० के मध्य रखा जा सकता है । इसे पुनः तीन उपचरणों - प्रथम "ए", प्रथम "बी" और प्रथम "सी" के अन्तर्गत विभाजित किया गया है । इन तीनों ही चरणों में लौह उपकरण उपलब्ध हुए हैं । प्रथम चरण प्राक एन० बी० पी० डब्ल्यू० संस्कृति का है । 3•55 मीटर के सांस्कृतिक जमाव से मुख्यतः ब्लैक ऐंड रेड वेयर स्लिप्ड वेयर (कृष्ण लेपित पात्र परम्परा) तथा रेड वेयर के पात्र उपलब्ध हुए हैं । इसी तरह के ब्लैक स्लिप्ड वेयर हस्तिनापुर के प्राक एन० बी० पी० डब्ल्यू० जमाव से भी प्राप्त हुए थे । उल्लेखनीय है कि राजघाट के ब्लैक स्लिप्ड वेयर के पात्र प्रकार हस्तिनापुर के द्वितीय चरण में मिलने वाले पी० जी० डब्ल्यू० (चित्रित धूसर पात्र-परम्परा) के पात्रों से साम्य रखते हैं । राजघाट के कुछ ब्लैक ऐंड रेड वेयर के पात्रों पर सफेद रंग से चित्र बना हुआ है । चित्रित अभिप्रायों में साधारण स्ट्रोक, लहरदार रेखाएं आदि सम्मिलित हैं । कभी-कभी इन चित्रों के लिए मोटे ब्रश का भी प्रयोग किया गया है । इसी धरातल से चर्ट पर बना हुआ एक ब्लेड उपकरण भी उपलब्ध हुआ है । उत्खननकी एक खन्ती में इस धरातल से कोई लौह उपकरण नहीं मिला था और लाल पात्र परम्परा के कुछ बर्तनों का आकार-प्रकार चिरांद के ताम्र पाषाणिक धरातल के बर्तनों से साम्य रखता है । इस आधार पर इस धरातल को ताम्र पाषाणिक संस्कृति से समीकृत किया गया है।[1]

---

1- राय टी० एन० (1983), एन्शियन्ट सिविलाइजेशन, पेज-51, नई दिल्ली ।

प्रथम"बी" चरण में पहली बार एन0 बी0 पी0 डब्ल्यू0 के पात्र मिलते हैं । लेकिन पूर्ववर्ती बी0 आर0 डब्ल्यू0 और ब्लैक स्लिप्ड वेयर के पात्र चलते रहते हैं । यद्यपि उनकी संख्या घट जाती है । पकी मिट्‌टी की ईंटों का प्रयोग भी इस चरण मे दिखाई देता है । प्रथम "सी" चरण और द्वितीय सांस्कृतिक काल परवर्ती एन0 बी0 पी0 डब्ल्यू संस्कृति से संबंधित किये गये है । जिन्हें 400-300 ई0 पू0 से लेकर ईसा की प्रारम्भिक शताब्दी के मध्य रखा गया है, जिस समय यहाँ नगरीकरण के प्रमाण मिलनेलगते हैं । यहाँ पर तीसरा सांस्कृतिक काल एन0 बी0 पी0 डब्ल्यू0 के बाद का है, जिसमें रेड पालिस्ड वेयर के बर्तन मिलते हैं ।

<u>प्रहलादपुर</u> :- प्रहलादपुर नामक पुरास्थल गंगा के दाहिने तट पर चन्दौली जनपद में स्थित है । बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के ए0 के0 नारायण एवं टी0 एन0 राय ने 1963 में इस स्थल का उत्खनन किया था । यहाँ के 3.91 मीटर आवासी जमाव को प्रारम्भिक मध्य और परवर्ती (प्रथम "ए", प्रथम"बी"और "सी") चरणों में विभाजित किया गया है । प्रथम "ए" चरण से ब्लैक स्लिप्ड वेयर, रेड वेयर, पी0 जी0 डब्ल्यू0, मोटे प्रकार का रेड वेयर और सादे ग्रेवेयर के बर्तन प्राप्त हुए हैं । इस चरण से लौह उपकरण भी उपलब्ध हुए हैं । अन्य सांस्कृतिक जमाव में हड्डी के बाणाग्र, मृण्मूर्तियाँ, पाटरी डिस्क, अगेट, कार्नेलियन और मिट्‌टी के मनके उपलब्ध हुए हैं । प्रथम "बी" चरण में पूर्णतः विकसित एन0 बी0 पी0 डब्ल्यू0 संस्कृति के प्रमाण मिलते हैं । इसके साथ प्राक एन0 बी0 पी0 डब्ल्यू0 संस्कृति की

अन्य पुरासामग्री-हड्डी के वाणाग्र, मिट्टी के बर्तनों के दृश्य, मिट्टी के कोन और मिट्टी के बने मनके उपलब्ध हुए थे। पशुओं और मनुष्यों की मृण्मूर्तियाँ, लेख रहित आहत मुद्राएं मिट्टी के वलयकूप भी इस चरण से प्राप्त हुए हैं। प्रथम "सी" उपचरण परवर्ती एन0 बी0 पी0 डब्ल्यू0 संस्कृति से सम्बद्ध है, जिसमें जली मिट्टी के डिस्क और हड्डी के वाणाग्रों की संख्या कम हो जाती है। लेकिन अन्य पुरासामाग्रियाँ चलती रहतीहैं।

पुरातात्विक सामग्रियों के आधार पर प्रथम "ए" उपचरण को 673 ई0 पू0 का समय प्रदान किया गया है। यहाँ से उपलब्ध एक रेडियो कार्बन (सी 14)तिथि टी0 एफ0 136, 765 बी0 सी0 है। इसके आधार पर इस चरण का प्रारम्भ आठवी शती ई0 पू0 माना गया है।[1] यद्यपि इसके प्रथम "ए" चरण से ताम्र पाषाणिक संस्कृति के ब्लैक ऐंड रेड वेयर, ब्लैक स्लिप्ड वेयर और गाल्सिडनी एक कोर भी उपलब्ध हुआ है, लेकिन इसी धरातल से लौह सामाग्रियाँ मिलने के कारण इस प्रारम्भिक लौह काल से सम्बद्ध किया गया है। फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि इस स्थल पर लौह संस्कृति के पहले ताम्र-पाषाणिक संस्कृति का एक धरातल था जिसके वास्तविक काल निर्धारण के लिये यहाँ पर और अधिक उत्खनन कार्य करने की आवश्यकता है। प्रथम "ए" चरण में मिलने वाली पुरासामाग्री के आधार पर टी0 एन0 राय ने इसे ताम्र-पाषाणिक संस्कृति और प्रारम्भिक

---

1- राय टी0 एन0 (1983), पूर्वोक्त।

लौह कालीन संस्कृति के संक्रमण काल से समीकृत किया है ।[1]

<u>सरायमोहना</u> :- यह पुरस्थल वाराणसी शहर के उत्तर-पूर्वी छोर पर वरूणा नदी के बायें तटपर स्थित है । राजघाट के उत्खनन के साथ ही 1960-61 में इस स्थल की खोज की गयी थी और 1967-68 में बी०एच०यू० के ए० के० नारायण ने इसका सीमित क्षेत्र में उत्खनन किया था ।[2] इस स्थल पर किये गये उत्खनन से दो सांस्कृतिक कालों के प्रमाण उपलब्ध हुए हैं जिनके बीच में एक अन्तराल है । प्रथम सांस्कृतिक काल को प्रथम "ए", प्रथम "बी" और प्रथम "सी" {प्राक एन० बी० पी० डब्ल्यू०, एन० बी० पी० डब्ल्यू० और परवर्ती एन० बी० पी० डब्ल्यू०} चरणों में विभाजित किया गया है । इन तीनों ही चरणों से प्रहलादपुर और राजघाट की तरह पात्र-परम्परायें और अन्य सामाग्रियाँ उपलब्ध हुई हैं । यहाँ का द्वितीय सांस्कृतिक काल परवर्तीमध्य काल से [illegible] है ।

<u>कमौली</u> :- उत्तर प्रदेश के वाराणसी जनपद में स्थित राजघाट के उत्खनन के समय इस स्थल की खोज की गयीथी और 1963-64 में छोटे पैमाने पर उत्खनन किया गया । यहाँ से दो सांस्कृतिक कालों के प्रमाण उपलब्ध हुए हैं - प्रथम सांस्कृतिक काल आद्यतिहासिक संस्कृति से संबंधित है । जिसमें लाल पात्र-परम्परा {रेड वेयर} और चर्ट पर बना एक ब्लेड उपकरण प्राप्त हुआ है । टी० एन० राय ने इस स्थल के प्रथम उपचरण को ताम्र-पाषाणिक

---

1- राय टी० एन० {1997}, इन [illegible] आफ द चाल्कोनिथिक कल्चर्स एट सम [illegible] आफ उत्तर प्रदेश <u>इण्डियन प्रीहिस्ट्री 1980</u>, सम्पा०, मिश्र वी० डी० एवं पाल जे० एन०, पेज 48-49.

2- इण्डियन आर्कियोलोजी : ए रिव्यू {1967-68}, पेज 48-49.

संस्कृति से समीकृत किया है ।[1] कमौली का दूसरा सांस्कृतिक काल परवर्ती मध्य काल से सम्बन्धित है ।

<u>मसोनडीह</u> :- यह पुरास्थल उत्तर प्रदेश के गाजीपुर जिले में गंगा नदी के बायें तट पर स्थित है । इस स्थल का उत्खनन वाराणसेय संस्कृति विश्वविद्यालय के आर० बी० नारायण ने 1964-65 से लेकर 1970-71 तक चार वर्षों में कराया । यहाँ से उपलब्ध सांस्कृतिक सामग्रियाँ राजघाट के प्रथम चार सांस्कृतिक कालों की ही तरह उपलब्ध हुई हैं । यहाँ के प्रथम 'ए' सांस्कृतिक काल को प्रहलादपुर और राजघाट के प्राक एन० बी० पी० डब्ल्यू० सांस्कृतिक काल से समीकृत किया गया है । प्रथम 'बी' सांस्कृतिक काल से एन० बी० पी० डब्ल्यू० संस्कृति के प्रारंभिक और परवर्ती चरण प्राप्त हुए हैं । तृतीय सांस्कृतिक काल एन० पी० बी० डब्ल्यू० के बाद का है । यहाँ से भी ब्लैक स्लिप्ड वेयर और ब्लैक ऐंड वेयर की पात्र - परम्पराएं और कुछ लघु-पाषाण उपकरण भी उपलब्ध हुए हैं ।

<u>सोहगौरा</u> :- जैसा कि नवपाषाणिक अधिवास प्रकार के संदर्भ में उल्लिखित किया जा चुका है कि आमी और राप्ती के संगम पर स्थित सोहगौरा स्थल के उत्खनन से पाँच सांस्कृतिक कालों के प्रमाण उपलब्ध हुए हैं । जिसमें से प्रथम काल से रस्सी की छाप से हाथ से बने हुए मिट्टी के बर्तन और कुछ अन्य नव - पाषाणिक सामाग्रियाँ उपलब्ध हुई हैं । द्वितीय सांस्कृतिक काल में चाक पर निर्मित, चित्रित और सादे ब्लैक स्लिप्ड वेयर, चित्रित और सादे ब्लैक ऐंड रेड वेयर, भूरे रंग की पात्र-परम्पराएं और लाल पात्र-परम्पराओं के बर्तन उपलब्ध हुए हैं । कुछ पात्रों को आसंजन विधि से और कुछ को पक जाने

---

1. राय, टी० एन० (1977), पूर्वोक्त ।

के बाद ग्लेजिंग विधि से अलंकृत किये गये हैं। जेस्पर, अगेट और स्टेएटाइट पर बने मनके और हड्डी के वाणाग्र भी उपलब्ध हुए हैं। इस धरातल से कोई भी लौह उपकरण नहीं उपलब्ध हुआ है। इसलिए इसे ताम्र पाषाणिक संस्कृति से समीकृत किया गया है।

तीसरे सांस्कृतिक काल में यद्यपि एन0 बी0 पी0 डब्ल्यू0 पात्र-परम्पराएं मिलने लगती हैं, लेकिन अन्य पूर्ववर्ती पात्र-परम्पराएं भी चलती रहती हैं। एन0 बी0 पी0 डब्ल्यू0 जमाव से युक्त तृतीय सांस्कृतिक काल को दो उपचरणों में विभाजित किया गया है। जिसके परवर्ती चरण में पकी मिट्टी की ईंटों का प्रयोग दिखाई पड़ता है। इस चरण में धरातल के विभिन्न भागों से धान और गेहूँ के पके दाने और ढले सिक्के, हड्डी के वाणाग्र और तांबे तथा लोहे के अन्य उपकरण भी उपलब्ध हुए हैं। यहाँ के चतुर्थ सांस्कृतिक काल में एन0 बी0 पी0 डब्ल्यू0 नहीं मिलता इस धरातल से कुषाण और अयोध्या मुद्राएं और वलयकूप (रिंग वेल) प्राप्त होते हैं। पाँचवे सांस्कृतिक काल का सम्बन्ध मध्य काल से है।

नरहन :- नरहन गोरखपुर जनपद के गोला तहसील में घाघरा के बायें तट पर स्थित है। नरहन के उत्खनन से सरयूपार क्षेत्र की संस्कृति के अधिवास प्रक्रिया पर उल्लेखनीय प्रकाश पड़ता है। 1984-89 के बीच इस स्थल का विस्तृत उत्खनन बी0 एच0 यू0 के पुरुषोत्तम सिंह ने किया था।[1] नरहन में दो मुख्य टीले हैं। जिनमें से प्रथम टीले का दो तिहाई भाग घाघरा नदी की

---

1. सिंह, पी0 (1994), एक्सकवेशन एट नरहन 1984 और इमलीडीह सिंह पी0 एक्सकवेशन एट इमलीडीह खुर्द पुरातत्व नं0 22 पेज 120-122 ।

कटान से पूर्णतय: विनष्ट हो गया है और शेष बचे एक तिहाई भाग पर वर्तमान नरहन गाँव स्थित है । लेकिन गाँव के पश्चिमी दिशा में लगभग 350 × 250 मीटर का क्षेत्र पुरातात्विक अन्वेषण के लिए उपलब्ध है । प्रथम टीले पर किये गये उत्खनन से प्रथम दो संस्कृति के प्रमाण और द्वितीय टीले बौद्ध विहार के नाम से जाना जाता है, के उत्खनन में बाद की तीन संस्कृतियों के प्रमाण उपलब्ध हुए हैं । यहाँ के प्रथम सांस्कृतिक काल का जमाव लगभग 1 मीटर के जमाव में मिलता है जो अन्य किसी भी स्थल की अपेक्षा ताम्र-पाषाणिक संस्कृति के सम्बन्ध में अधिक मोटा है । यहाँ पर ब्लैक ऐंड रेड वेयर पात्र - परम्परा लगभग 97·7% है । यद्यपि इस सांस्कृतिक काल की पात्र-परम्परा और अन्य पुरा सामग्रियाँ ताम्र पाषाणिक के संदर्भ में भी हैं, लेकिन लघु पाषाण उपकरण के न मिलने के कारण इस स्थल के उत्खनन कर्ता पुरूषोत्तम सिंह ने इसे नरहन संस्कृति का नाम दिया है ।

इस संस्कृति के लोग बाँस-बल्ली से निर्मित झोपड़ियों जैसे घरों में निवास करते थे । जिसके प्रमाण स्तम्भ गर्त और बाँस-बल्ली के निशान से युक्त जली मिट्टी के टुकड़ों के रूप में मिलते दो क्रमिक फर्श और चूल्हे भी उत्खनन में प्राप्त हुए हैं । इस धरातल से बहुत से अनाजों के प्रमाण भी उपलब्ध हुए हैं, जिनमें जौ (हार्डियम, वुल्हार) गेहूँ ( कई प्रजातियाँ - क्लब व्हीट, ब्रेड व्हीट, ड्वार्फ व्हीट) और धान, दालों में मटर, मूँग, चना, खेसारी तथा सरसों और बर्र के प्रमाण मिलते हैं । इस धरातल से कटहल के प्रमाण भी प्राप्त हुए हैं । यद्यपि इस स्थल के प्रथम निवासियों ने बड़े पैमाने पर कृषि को अपनाया था, लेकिन जली हुई और काटने के निशान से युक्त पशुओं की हड्डियों से लगता है

कि मांस भी इनके भोजन का एक अभिन्न अंग था। पशुओं की हड्डियों में बैल, भेड़, बकरी, हिरण और घोड़े की पहचान की गयी है। अन्य पुरासामाग्रियों में मिट्टी के बर्तनों के टुकड़े से बने हुए छिद्र युक्त और बिना छिद्र के डिस्क, हड्डी के वाणाग्र, पकी मिट्टी के बने हुए तकुए और गोले सम्मिलित हैं। पत्थर के और स्टेएटाइट के एक-एक मनके भी प्राप्त हुए हैं। नरहन का इसके बाद का सांस्कृतिक अनुक्रम सोहगौरा की ही तरह है।

इमलीडीह खुर्द[1] :- इमलीडीह खुर्द नामक पुरास्थल का उत्खनन भी बी0 एच० यू0 के पुरूषोत्तम सिंह द्वारा 1992 से 1995 तक किया गया। गोरखपुर जनपद में घाघरा की सहायक कुहाना नदी के बायें तट पर स्थित इस स्थल के उत्खनन से तीन सांस्कृतिक कालों के प्रमाण प्राप्त हुए हैं।

प्रथम सांस्कृतिक काल से बांस-बल्ली के निशान से युक्त जली मिट्टी के टुकड़े, मिट्टी के बने फर्श और चूल्हे प्राप्त हुए हैं। 1.95 मीटर के व्यास वाले एक गोलाकार गर्त भी उपलब्ध हुआ है। कुछ मिट्टी की पतली दीवालों से बनी हुई गोलाकार संरचनाएं भी मिली हैं, जिनका प्रयोग अनाज रखने के लिए किया जाता था। बहुत से स्टेएटाइट के लघु मनके, मिट्टी अगेट और फ्यान्स के बने मनके हड्डी के वाणाग्र और मिट्टी के बर्तनों के टुकड़ों से बने डिस्क भी प्राप्त हुए हैं। इस चरण से उपलब्ध पात्र-परम्परा का साम्य सोहगौरा की प्रथम चरण की पात्र-परम्परा से है। लेकिन उत्खनन कर्ता ने इस संस्कृति को प्राक नरहन संस्कृति से अभीहित किया है। यहां से उपलब्ध जिन पशुओं की पहचान की गयी

---

1. सिंह पी0, पूर्वोक्त, पृ0 120 - 122।

है उनमें गाय, बैल, भैंड़, बकरी, सुअर, हिरण और भेड़िया आदि सम्मिलित हैं। मछली, घोंघे, और कछुए के अस्थि अवशेष प्राप्त हुए हैं। अनाजों के प्रमाण से ऐसा लगता है कि यहाँ के निवासी रबी और खरीफ दोनों फसलों से परिचित थे। धान, जौ, गेहूँ, ज्वार, साँवा, बाजरा, मटर, खेसारी, मूँग, तिल आदि अनाजों के प्रमाण प्राप्त हुए हैं। इस धरातल से बेर, आँवला और अंगूर जैसे फलों के प्रमाण भी उपलब्ध हुए हैं। इमलीडीह का द्वितीय सांस्कृतिक काल ताम्र-पाषाणिक संस्कृति से है, जिसे उत्खनन कर्ता ने नरहन संस्कृति का नाम दिया है। इस सांस्कृतिक काल का अवशेष नरहन के प्रथम सांस्कृतिक काल की ही तरह है।

इमलीडीह का तीसरा सांस्कृतिक धरातल अधिक विस्तृत नहीं है। क्योंकि इस स्थल का उपरिवर्ती भाग आधुनिक कृषि कार्यों से प्रायः विनष्ट हो गया है। लेकिन इस धरातल से ब्लैक एंड रेड वेयर के पात्र नहीं मिलते हैं। लाल पात्र-परम्परा ‡ रेड वेयर ‡, ब्लैक स्लिप्ड वेयर और कुछ एन० बी० पी० डब्ल्यू० पात्र-परम्पराओं के प्रमाण उपलब्ध हुए हैं। इसे पुरूषोत्तम सिंह ने इमलीडीह के तृतीय सांस्कृतिक काल को नरहन के द्वितीय सांस्कृतिक काल के समकक्ष रखा है। जिसके लिए 800 से 400 ई० पू० का समय निर्धारित किया गया है।

<u>भूनाडीह</u> :- यह पुरास्थल बलिया से लगभग 28 किलोमीटर उत्तर, बलिया सिकन्दरपुर सड़क पर जनलन से 2 किलोमीटर पूर्व बहेरा नाले के दाहिने तट पर स्थित है। चार एकड़ के क्षेत्र में विस्तृत यह स्थल एक मीटर ऊँचे टीले के रूप में है। वर्तमान आबादी वाले इस स्थल के पुरावशेष और स्तरीकरण काफी सीमा तक अस्त-व्यस्त है। लेकिन फिर भी बी० एच० यू० के पुरूषोत्तम सिंह ने इस स्थल का उत्खनन किया और दो संस्कृति के प्रमाण प्रकाश में लाये। प्रथम सांस्कृतिक

काल को प्रथम 'ए' और प्रथम 'बी' दो चरणों में विभाजित किया गया है ।

'ए' संस्कृति के प्रमाण टीले के पश्चिमी भाग में दो मीटर x दो मीटर के खन्ती में किए गए उत्खनन से प्राप्त हुए हैं । इस चरण की पात्र-परम्परा इमलीडीह और सोहगौरा के प्रथम चरण की ही तरह है । जिसमें रस्सी के छाप वाले लाल पात्र-परम्परा, टोंटीयुक्त लाल बर्तन और अन्य पात्र प्रकार उपलब्ध है । इस धरातल से झोपड़ियों के प्रमाण बाँस-बल्ली के [illegible] से युक्त, जली मिट्टी के टुकड़े के रूप में मिलते हैं । स्टेएटाइट के लघु मनके और मिट्टी के बर्तनों से बने डिस्क भी प्राप्त हुए हैं । पुरुषोत्तम सिंह ने अपने नामकरण के अनुरूप इसे प्राक नरहन संस्कृति का नाम दिया । प्रथम 'बी' चरण से प्राक नरहन और नरहन अर्थात् नव-पाषाणिक और ताम्र-पाषाणिक संस्कृति के संक्रमण के प्रमाण उपलब्ध हुए हैं । इस चरण के संरचनात्मक प्रमाण प्रथम 'ए' की ही तरह हैं । पात्र-परम्परा में रस्सी की छाप वाले और सादे ब्लेक एंड रेड वेयर, ब्लेक स्लिप्ड वेयर और रेड वेयर के बर्तन मिलते हैं । प्रमुख पात्र-प्रकारों में साधार कटोरे, डिस्क ऑन स्टैंड आदि हैं । कुछ बिन्दुओं से चित्रित पात्र-खण्ड भी उपलब्ध हुए हैं । मिट्टी [illegible] और अर्द्धरत्नों के मनके तथा पाटरी डिस्क इस चरण में भी मिले हैं ।

द्वितीय सांस्कृतिक काल में भी झोपड़ियों के अवशेष उपलब्ध हुए हैं और शेष प्रमाण पूर्ववर्ती चरणों की ही तरह प्राप्त हुए हैं ।

<u>धुरियापार :-</u> यह स्थल गोरखपुर से लगभग 46 किलोमीटर दक्षिण कुँआना नदी के बायें तट पर लगभग 1.5 किलोमीटर के विस्तृत क्षेत्र में आवास के प्रमाण तीन छोटे गाँव - जगदीशपुर, बाँसडीह और धुरियापार में प्राप्त हुए हैं । नरहन में उत्खनन करते समय इस स्थल की खोज की गई थी । अप्रैल-मई, 1991 में इस

के सांस्कृतिक अवशेष को समझने के लिए 3 x 3 मीटर के वर्ग क्षेत्र में उत्खनन किया गया था। जिसमें पाँच सांस्कृतिक कालों के प्रमाण उपलब्ध हुए थे। प्रथम सांस्कृतिक काल में सफेद रंग से रेखीय चित्र युक्त ब्लैक एंड रेड वेयर, ब्लैक स्लिप्ड वेयर के बर्तन प्राप्त हुए थे। मिट्टी की गोलियाँ, मनके, हड्डी के वाणाग्र और कंघी तथा पाटरी डिस्क जैसे उपकरण नरहन संस्कृति ( ताम्र-पाषाणिक संस्कृति ) की तरह हैं।

द्वितीय सांस्कृतिक काल में एन० बी० पी० डब्ल्यू० और उससे सम्बन्धित अन्य पात्र परम्पराएं मिली हैं। तृतीय सांस्कृतिक काल कुषाण और गुप्त काल से सम्बन्धित हैं। तृतीय सांस्कृतिक काल के बाद लगभग 400 वर्षों तक यह स्थल वीरान रहा। चौथा सांस्कृतिक काल 900 से 1500 ई० के मध्य रखा गया है। अन्त में ब्रिटिश काल में पुन: यहाँ पर आबादी के प्रमाण मिलते हैं, जो अब भी हैं।[1]

खेराडीह :- यह स्थल बलिया जिले में बेलथरा रोड से लगभग 8 किलोमीटर उत्तर-पूर्व दिशा में घाघरा नदी के दाहिने तट पर स्थित है। बी० एच० यू० के वी०पी० सिंह ने इस स्थल का 1980-81 से लेकर 85-86 के बीच 5 वर्षों तक उत्खनन किया, जिससे तीन सांस्कृतिक कालों के प्रमाण प्राप्त हुए। प्रथम सांस्कृतिक काल से चित्रित और सादे ब्लैक एंड रेड वेयर, ब्लैक स्लिप्ड वेयर के बर्तन उपलब्ध हुए हैं। स्तम्भगर्त बाँस-बल्ली के निशान से युक्त जली मिट्टी के टुकड़े और मिट्टी की दीवाल के अवशेष से प्रतीत होता है कि प्रथम चरण के लोग मिट्टी से निर्मित घरों और झोपड़ियों में निवास करते थे। मिट्टी की दीवाल की ऊँचाई और

---

1. सिंह पुरुषोत्तम ( 1996 ), पूर्वोक्त ।

चौड़ाई क्रमश: 1•06 मीटर और 0•62 मीटर उपलब्ध हुई है । लेकिन उल्लेखनीय है कि दीवाल अथवा स्तम्भगर्तों के आधार पर घर का पूरा आकार उपलब्ध नहीं हुआ । इस चरण की पात्र-परम्परा चिरांद, ताराडीह, सेनुआर, नरहन, मांझी आदि स्थलों के चित्रित और सादे ब्लेक ऐंड रेड वेयर और ब्लेक स्लिप्ड वेयर से साम्य रखते हैं । इस धरातल से कुछ रस्सी की छाप वाले मिट्टी के बर्तन भी उपलब्ध हुए थे । अन्य पुरासामग्रियों में पुच्छल और साकेट युक्त हड्डी के वाणाग्र, पशुओं और पक्षियों की हड्डियां आदि भी उपलब्ध हुई हैं । कुछ हड्डियां जली हुई हैं और कुछ पर काटने के निशान, दो छिद्रों से युक्त साकेटयुक्त तांबे का वाणाग्र उपलब्ध हुआ है । इस चरण के लोग कृषि से परिचित थे । धान की भूँसी, मिट्टी के बर्तनों और जली मिट्टी के टुकड़ों से प्राप्त होते हैं । विभिन्न आकार के स्टएट-स्ट के डिस्क के आकार के मनके, अगेट, कार्नेलियन, चर्ट और वाल्सिडनी के मनके और कुछ मृण्मूर्तियां भी उपलब्ध हुई हैं ।

द्वितीय चरण से एन0 बी0 पी0 डब्ल्यू0 संस्कृति के मुख्यत: प्रारंभिक चरण के पुरासामग्रियां उपलब्ध हुई हैं । इस चरण को प्रारम्भिक और परवर्ती दो चरणों में विभाजित किया गया है । तृतीय चरण ई0 के प्रारम्भिक शताब्दियों का है, जिसमें लाल पात्र परम्परा के बर्तन और कुषाण शैली में निर्मित मानव मृण्मूर्तियां उपलब्ध हैं ।

<u>चिरांद</u> :- चिरांद बिहार के सारन जिले में छपरा से 11 किलोमीटर पूर्व घाघरा के तट पर स्थित है । जिसका उत्खनन बी0 पी0 सिन्हा और बी0 एस0 वर्मा ने 1962-63, 63-64, 64-65 और पुन: 1968-69, 69-70 और 70-71 में किया था । प्रथम तीन सत्रों में किये गये उत्खनन से तीन क्रमिक संस्कृतियां प्रकाश

में आई थी । 1967 - 69 में किए गये उत्खनन में इस स्थल के ऊपरी धरातल से चौथी संस्कृति प्रकाश में आई जो कल्चुर राजवंश ‖ 1045 ई0 ‖ और पाल काल से सम्बन्धित है । 1969-70 के उत्खनन से नव-पाषाणिक जमाव स्पष्टतः प्रकाश में आए । लेकिन 1970-71 के उत्खनन में यहाँ की नव-पाषाणिक और ताम्र-पाषाणिक जमाव से इन संस्कृतियों के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त हुई है ।

प्रथम सांस्कृतिक काल का प्रमाण निम्नतम 3.50 मीटर के जमाव से उपलब्ध हुआ है । जिसमें लाल, भूरे और काले और कृष्ण लोहित पात्र-परम्परा के बर्तन ‖कभी-कभी भूरे, लाल और कृष्ण लोहित पात्रों के पक जाने के बाद लाल गेरू के रंग से चित्र बनाये गये हैं ‖ । मिट्टी के उपकरण और अन्य सामग्री पत्थर की कुल्हाड़ियाँ जैसे उपकरण, मिट्टी अगेट, चालसिडनी और क्यार्टज के बने मनके लघु पाषाण उपकरण आदि उपलब्ध हुए हैं । इस चरण की पात्र परम्परा के बर्तन हाथ से बने हुए हैं । कुछ परिनिष्ठित और रेस्टीकेटे पात्र भी उपलब्ध हुए हैं । कुछ पात्रों पर पका लेने के बाद रेखाएं उत्कीर्णन के प्रमाण ‖ पोस्ट फायरिंग ग्रेफिटिंग‖ मिलते हैं और कुछ पात्रों के ऊपर रस्सी के छाप प्राप्त होते हैं । ‖प्रमुख पात्र प्रकार टोंटी युक्त और बिना टोंटी वाले घड़े, कटोरे और पेरयुक्त कटोरे उपलब्ध हुए हैं । संरचनात्मक अवशेषों में स्तम्भगर्तों से युक्त झोपड़ियों के फर्श और चूल्हे सम्मिलित हैं ।

द्वितीय सांस्कृतिक काल को दो उपकालों द्वितीय 'ए' और द्वितीय 'बी' में विभाजित किया गया है । जो ताम्र-पाषाणिक संस्कृति से सम्बन्धित है । द्वितीय 'ए' चरण में सादे और चित्रित कृष्ण लोहित पात्र-परम्परा ‖ब्लेक एंड रेड वेयर ‖ सादे और चित्रित ब्लेक स्लिप्ड वेयर तथा वर्निश्ड अथवा सादे लाल पात्र-परम्परा और भूरे पात्र-परम्परा के बर्तन मिलते हैं । चित्रण अभिप्रायों में डैस का सम्बन्ध

लहरदार और सीधी रेखाओं से विभाजित है। घड़ों में कंधे के पास चित्रित किया गया है। द्वितीय 'बी' सांस्कृतिक काल से लोह उपकरण भी उपलब्ध हुए हैं। लेकिन अन्य सांस्कृतिक सामग्रियां द्वितीय 'ए' की ही तरह हैं। इस चरण से भी (द्वितीय 'बी') आवास के भी झोपड़ियों के प्रमाण मिले हैं, लेकिन उनका आकार अब बड़ा हो गया था। तृतीय सांस्कृतिक काल एन0 बी0 पी0 डब्ल्यू0 संस्कृति से संबंधित है। लेकिन पूर्ववर्ती ब्लेक स्लिप्ड वेयर और कृष्ण लोहित पात्र-परम्परा के बर्तन इस चरण में भी मिलते हैं। अन्य पुरासामग्रियों में नव-पाषाणिक कुल्हाड़ियां, सुर्मा लगाने की सलाई, पत्थर की गोलियां, सिल-लोढ़े, मिट्टी की खिलौना-गाड़ी, पशुओं और मानवों की मृण्मूर्तियां, लोहे के चाकू, हड्डी का वाणाग्र और कुछ आहत और ढले हुए ताम्र मुद्राएं सम्मिलित हैं। इस चरण के ऊपरी धरातल से पकी ईंटों से निर्मित दीवाल भी उपलब्ध हुई है। इन ईंटों का आकार 46 x 25 x 8 सेंटी-मीटर है। एक निवास गर्त में दफनाया हुए एक पशु का कंकाल भी उपलब्ध हुआ था। मिट्टी का एक मुखौटा भी इस धरातल से उपलब्ध हुआ है। चतुर्थ सांस्कृतिक काल ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों से संबंधित हैं।

<u>मांझी</u> :- बिहार के सारन जिले में घाघरा नदी के बायें तट पर यह स्थल स्थित है। केन्द्रीय सरकार द्वारा संरक्षित इस स्थल का उत्खनन बी0 एच0 यू0 के टी0 एन0 राय ने 1983-84 और 84-85 में किया था।[1] इस उत्खनन से प्राक बुद्ध काल से लेकर मध्य काल तक के सांस्कृतिक अवशेष उपलब्ध हुए हैं। प्रथम चरण से ब्लेक एंड रेड

---

1. <u>इण्डियन आर्कियोलाजी : ए रिव्यू</u> (1981-82), पेज 10 - 12, आई0 ए0 आर0 1984 - 85 ।

वेयर, ब्लेक स्लिप्ड वेयर और रेड वेयर के पात्र उपलब्ध हुए हैं । जो ताम्र-पाषाणिक पात्र-परम्परा के अनुरूप हैं । द्वितीय सांस्कृतिक काल को द्वितीय "ए", द्वितीय "बी" और द्वितीय "सी" तीन चरणों में विभाजित किया गया है । द्वितीय "ए" उपचरण में प्रारंभिक एन0 बी0 पी0 डब्ल्यू0 संस्कृति के प्रमाण मिलते हैं । जिसमें बड़ी संख्या में पूर्णत: निर्मित और अर्धनिर्मित हड्डी के उपकरण, पत्थर के सार्पनर, ताँबे की चूड़ियाँ और अस्पष्ट प्रकार का एक लौह उपकरण सम्मिलित है । द्वितीय "बी" उपचरण से अधिक अच्छे प्रकार की सामाग्रियाँ उपलब्ध हुई हैं , और द्वितीय "सी" उपचरण से रुक्ष प्रकार के एन0 बी0 पी0 डब्ल्यू प्राप्त हुए हैं ।

अन्य पुरा सामग्रियों में आहत सिक्के, बड़ी संख्या में हड्डी के उपकरण, डिस्क, मृण्मूर्तियाँ, शीशे की चूड़ियाँ, ताँबे और लोहे के उपकरण, घोड़े की एक मृण्मूर्ति और ढक्कनयुक्त एक पाषाण मंजूषा सम्मिलित है । तृतीय सांस्कृतिक काल का समय शक कुषाण काल से है । जिसमें पकी ईंटों से निर्मित दीवालें प्राप्त हुई हैं । एक लम्बे अन्तराल के बाद चतुर्थ सांस्कृतिक काल का अभाव मिलता है, जिसमें कुछ ग्लेज्डवेयर [काँचलित पात्र-परम्परा] के बर्तन प्राप्त हुए हैं । इस आधार पर इस मध्य युग से संबंधित किया जा सकता है ।

मनेर :- पटना जिले में स्थित मनेर का उत्खनन पटना विश्वविद्यालय के भगवान सहाय के निर्देशन में किया गया था । इस उत्खनन से यहाँ पर

तीन सांस्कृतिक कालों के प्रमाण प्राप्त हुए हैं । प्रथम सांस्कृतिक काल के प्रमाण पाँचवे स्तर से उपलब्ध हुए हैं । जिसमें ब्लेक ऐंड रेड वेयर, रेड वेयर तथा कुछ ब्लेक वेयर के पात्र उपलब्ध हुए हैं । इस चरण से लघु पाषाण उपकरणों का एक कोर, ब्लेड, मिट्टी की गोलियाँ या गोले तथा पत्थर के मनके उपलब्ध हुए हैं, जो ताम्र पाषाणिक संस्कृति से संबंधित हैं । द्वितीय सांस्कृतिक काल एन0बी0पी0डब्ल्यू0 संस्कृति से संबंधित है । जिसमें लोहे के उपकरण, मिट्टी और पत्थर के मनके, पकी मिट्टी का बना हुआ थपुआ, पत्थर की गोलियाँ, सिल-लोढ़े और मानव और पशु मृण्मूर्तियाँ, ताँबे की चूड़ियाँ, चक्र, मापक सामग्री आदि प्राप्त हुए हैं । तृतीय सांस्कृतिक कालएन0बी0पी0डब्ल्यू0 संस्कृति के बाद का है, जो पाल काल से समीकृत किया गया है ।

<u>ओरियप</u> :- बिहार के भागलपुर जिले में अन्तीचक से दो किलोमीटर दक्षिण पश्चिम दिशा में यह स्थल स्थित हैं । 1966-67 में बी0पी0 सिन्हा और आर0पी0 सिंह के द्वारा इसका उत्खनन किया गया जिसके फलस्वरूप चार सांस्कृतिक कालों के प्रमाण प्राप्त हुए हैं । प्रथम सांस्कृतिक काल चित्रित और सादे, ब्लेक स्लिप्ड वेयर और रेड वेयर के पात्र उपलब्ध हुए हैं । इनके साथ हड्डी के वाणाग्र, हड्डी की बनी हुई कटिया, ताँबे की बनी हुई चूड़ियाँ और लघु पाषाण उपकरण उपलब्ध हुए हैं । इस आधार पर इस सांस्कृतिक चरण को मध्य गंगा घाटी के ताम्र पाषाणिक संस्कृति से संबंधित किया गया है । बिना किसी सांस्कृतिक व्यतिक्रम के इस स्थल पर द्वितीय सांस्कृतिक काल के प्रमाण मिलते हैं । जिसमें प्रारंभिक एन0 बी0 पी0 डब्ल्यू संस्कृति से संबंधित लोहे के

उपकरण, हड्डी के वाणाग्र और अच्छे प्रकार के एन0 बी0 पी0 डब्ल्यू0 ब्लैक स्लिप्ड वेयर, ग्रे वेयर, ब्लैक ऐंड रेड वेयर और रेड वेयर के पात्र उपलब्ध हुए हैं। इसके उपरांत संभवत: यह स्थल काफी समय तक वीरान रहा। जिसके बाद पाल काल में यह पुन: आबाद हुआ, जिसे तृतीय सांस्कृतिक काल नाम दिया गया है। यहाँ पर चतुर्थ सांस्कृतिक काल मध्य युग से संबंधित था।

<u>चम्पा :-</u> यह स्थल भागलपुर से पाँच किलोमीटर पश्चिम में स्थित है, जिसका उत्खनन पटना विश्वविद्यालय के बी0 पी0 सिन्हा और आर0 पी0 सिन्हा ने 1969-70 और 70-71, 72-73 में किया। बी0नारायण और ए0 के0 सिंह ने इस स्थल पर 1974-75 और 1976-77 में पुन: उत्खनन किया। इन उत्खननों से तीन सांस्कृतिक कालों के जमाव प्राप्त हुए हैं। 1974-75 में किये गये उत्खनन से रूक्ष ब्लैक ऐंड रेड वेयर के पात्र निम्न धरातल से उपलब्ध हुए हैं,जो चिरांद के ताम्र पाषाणिक संस्कृति के समरूप माना गया है[1], लेकिन विभिन्न उत्खननों से प्राप्त सांस्कृतिक सामग्री को जिन तीन कालों में विभाजित किया गया है उनमें प्रथम काल है एन0 बी0 पी0 डब्ल्यू0 संस्कृति का परवर्ती चरण जिसमें एन0 बी0 पी0 डब्ल्यू0 ब्लैक ऐंड रेड वेयर, ब्लैक वेयर, ग्रे वेयर और रेड वेयर के पात्र, लोहे और ताँबे के उपकरण, मानव और पशु मृण्मूर्तियाँ, हड्डी के वाणाग्र, शीशे के मनके आदि उपलब्ध हुए हैं। हाथी दाँत की एक नारी मूर्ति, एक चित्रित एन0 बी0 पी0 डब्ल्यू0 पात्र खण्ड उल्लेखनीय है।

---

1. <u>इण्डियन आर्कियोलाजी : ए रिव्यू</u> (1974 - 75), पृ0 8 - 9.

इस काल से 40 x 25 x 7 सेंटीमीटर के आकार की पकी ईंटों से बनी हुई एक दीवाल, वलयकूप तथा मिट्टी से निर्मित रक्षा प्राचीर प्राप्त हुई है। टी० एन० राय के अनुसार क्योंकि यह स्थल एन० बी० पी० डब्ल्यू० संस्कृति के मध्यवर्ती क्षेत्र में आता है और जैन साहित्यों बुद्ध और महावीर के समय के छः प्रमुख नगरों में इसकी गणना की जाती थी, इस स्थल पर और गहन खोजों से प्राचीन संस्कृति के प्रमाण मिल सकते हैं[1]। इस स्थल के द्वितीय और तृतीय सांस्कृतिक काल क्रमशः गुप्त युग और मध्य युग से संबंधित हैं।

<u>वेचर कुतुबपुर</u> :- वेचर कुतुबपुर जिसका उल्लेख नव-पाषाणिक संदर्भ में पहले ही किया जा चुका है। यहाँ का प्रथम "ए" सांस्कृतिक काल नव-पाषाणिक संस्कृति से संबंधित है। प्रथम "बी" सांस्कृतिक काल का संबंध ताम्र पाषाणिक संस्कृति से है, जिसमें उत्कृष्ट प्रकार के हड्डी और मृगश्रृंगों पर बने उपकरण नहीं मिलते अपितु केवल सामान्य उपकरण ही प्राप्त होते हैं। इस चरण की पात्र परम्परा अन्य ताम्र पाषाणिक पात्र-परम्पराओं की ही तरह है। यहाँ के प्रथम सी० सांस्कृतिक उपचरण से भी हड्डी के उपकरण और ब्लैक ऐंड रेड वेयर उपलब्ध हुए हैं। जिसमें कुछ पात्रों पर तिरछे स्ट्रोक या बिन्दु सफेद रंग से चित्रित किए गए हैं। गेरू रंग के बने चित्र इस चरण में भी मिलते हैं। इस स्थल से हड़प्पन स्टापटाप डिस्क आकार के मनके की तरह के लघु मनके भी उपलब्ध हुए हैं।

---

1. राय टी० एन० {1983}, पूर्वोक्त, पेज 8-9।

द्वितीय सांस्कृतिक काल से एन0 बी0 पी0 डब्ल्यू0 संस्कृति का प्रारंभ होता है । इस चरण में भी पूर्ववर्ती बी0 आर0 डब्ल्यू0 पात्र-परम्परा चलती रहती है । एक-दो मीटर गहरे और पाँच मीटर चौड़े गड्ढे से पकी ईंटें और लोह उपकरण उपलब्ध हुए हैं । तृतीय सांस्कृतिक काल में बड़े पैमाने पर पकी ईंटों से निर्मित संरचनाओं के प्रमाण मिलते हैं जिसे कुषाणकाल से समीकृत किया गया है ।

सोनपुर :- यह स्थल बिहार के गया जिले में बेला रेलवे स्टेशन से 4.2 किलोमीटर पश्चिम जमुनी नदी के तट पर स्थित है । सर्वप्रथम इस स्थल का उत्खनन 1955-56 में के0 पी0 जायसवाल शोध संस्थान के विजयकान्त मिश्र द्वारा किया गया । दो वर्ष के उपरांत इसी संस्थान के बी0 एस0 वर्मा ने 1959-60 से 61-62 के बीच पुनः उत्खनन किया । 1970-71 में बी0 पी0 सिन्हा और लाला आदित्य नारायण ने इस स्थल का पुनः उत्खनन किया । 1970-71 में किए गए उत्खनन से इस स्थल पर दो क्रमिक संस्कृतियों के प्रमाण प्राप्त हुए । जिनमें से प्रथम ताम्र-पाषाण संस्कृति से संबंधित है । प्रथम सांस्कृतिक काल में ब्लैक ऐंड रेड वेयर, ब्लैक स्लिप्ड वेयर और रेड वेयर के पात्र प्राप्त हुए हैं । ब्लैक ऐंड रेड वेयर के पात्र खण्ड पर रेखीय चित्र बनाये गये हैं । इस धरातल से हड्डी के वाणाग्र और एक तांबे की पिन प्राप्त हुई है । बांस बल्ली के निशान से युक्त जली मिट्टी से झोपड़ी जैसे घरों का अनुमान किया जा सकता है । इसी सांस्कृतिक काल में लघु पाषाण उपकरणों में कोर, प्वाइन्ट, अर्द्ध चन्द्र और त्रिभुज जैसे उपकरण भी प्राप्त हुए हैं । ये उपकरण अगेट चर्ट और [illegible] जैसे पत्थरों पर निर्मित हैं । यहाँ के द्वितीय सांस्कृतिक काल से एन0 बी0 पी0 डब्ल्यू0 पात्र परम्परा और लोह उपकरण मिलते हैं ।

ताराडीह :- जैसा कि नव पाषाणिक संस्कृति के संदर्भ में उल्लिखित किया जा चुका है कि बिहार राज्यपुरा तत्व विभाग के ए० के० प्रसाद द्वारा इस स्थल पर किए गए उत्खनन से नव पाषाण काल से लेकर पाल काल तक के सांस्कृतिक अवशेष उपलब्ध हुए हैं। ताम्र पाषाणिक संस्कृति का जमाव लगभग 70 सेंटीमीटर आवासीय जमाव में प्राप्त होते हैं। जिससे बी० आर० डब्ल्यू, ब्लैक स्लिप्ड वेयर और रेड वेयर पात्र परम्परा के बर्तन प्राप्त होते हैं। मिट्टी को पीटकर बनाये गये फर्शों से ऐसा प्रतीत होता है कि इस संस्कृति के लोग बाँस-बल्ली और घास-फूस से बने झोपड़ियों में निवास करते थे। इस धरातल से ताँबे की एक कटिया और कार्नेलियन पर एक फलक उपलब्ध हुआ है। यहाँ का एक तीसरा सांस्कृतिक काल एन० बी० पी० डब्ल्यू० संस्कृति का है। जिसमें पात्र परम्पराओं के अतिरिक्त अर्द्धरत्नों पर बने मनके, विभिन्न सामग्रियों से निर्मित चूड़ियाँ और छल्ले उपलब्ध हुए हैं। इस धरातल से कुछ नव पाषाणिक उपकरण भी उपलब्ध हुए हैं। चतुर्थ सांस्कृतिक काल में कुषाण युगीन पात्र-परम्पराएं प्राप्त हुई हैं। इस धरातल से भी मिट्टी और अर्द्धरत्नों पर बने मनके, चूड़ियों के टुकड़े तथा नथुर प्राप्त हुए हैं। छठें सांस्कृतिक काल से पाल युगीन अवशेष उपलब्ध हुए हैं[1]।

सेनुआर :- बिहार के रोहतास जिले में स्थित सेनुआर के उत्खनन से भी नव - पाषाणिक काल से लेकर ऐतिहासिक काल तक के अवशेष प्राप्त हुए हैं। इस स्थल के उत्खनन के प्रथम काल के प्रथम "बी" उपचरण से नव-पाषाणिक और ताम्र

---

1• इण्डियन आर्कियोलाजी : ए रिव्यू { 1981-82 }, पृ० 10-12, आई० ए० आर० 1984-85 ।

पाषाणिक संस्कृति के संक्रमण संबंधी प्रमाण उपलब्ध हुए हैं। यहाँ का द्वितीय सांस्कृतिक काल विशुद्ध रूप से ताम्र पाषाणिक संस्कृति से सम्बन्धित है, जो 2.30 [illegible] मोटा है। द्वितीय सांस्कृतिक काल के उपरिवर्ती जमाव और तृतीय सांस्कृतिक काल के प्रारंभिक स्तरों ताम्र पाषाणिक और लौह युगीन संस्कृति के संक्रमण संबंधी प्रमाण के लिए भी यह स्थल विशेष उल्लेखनीय है। ताम्र-पाषाणिक धरातल से कई क्रमिक आवासीय फर्शों के प्रमाण उपलब्ध हुए हैं। ये फर्श 6 सेंटीमीटर से 3 सेंटीमीटर तक मोटे हैं और जो मिट्टी को पीटकर बनाये गये हैं। फर्शों के समकालीन स्तरों से बांस-बल्ली के निशान से युक्त जली मिट्टी के टुकड़े उपलब्ध हुए हैं। जिनमें धान की भूसी मिली हुई है। कतिपय अवशेषों से पता चलता है कि इनकी झोपड़ियाँ गोलाकार थीं। गोलाकार मिट्टी की दीवालों से निर्मित संरचनाओं के भी प्रमाण उपलब्ध हुए हैं[1]। ताम्र पाषाणिक सांस्कृतिक काल से जली मिट्टी से घिरे हुए कुछ गोलाकार अथवा वर्गाकार गर्त उपलब्ध हुए हैं, जिनसे राख, कोयला और मिट्टी के बर्तन प्राप्त होते हैं। इन गर्तों का किस रूप में प्रयोग होता था यह निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता। यहाँ की बी० आर० डब्ल्यू० और ब्लेक स्लिप्ड वेयर पात्र-परम्परा पर रेखीय चित्र बने हुए हैं। कुछ रस्सी की छाप वाले बर्तन भी प्राप्त होते हैं।

---

1. सिंह बी० पी० (1989), द [illegible] कल्चर आफ साउदर्न बिहार ऐज रिविल्ड बाई द एक्सप्लोरेशन ऐंड एक्सकवेशन इन डिस्ट्रिक्ट रोहतास, पुरातत्व नं० 20, पृ० 83-92

उपरोक्त स्थलों के उत्खनन और सर्वेक्षण के परिणाम स्वरूप मध्य गंगाघाटी के प्रागैतिहासिक मानचित्र पर ता[illegible] संस्कृति का स्वरूप स्पष्ट होने लगा है। इस संस्कृति की पुरातात्विक सामग्री के अन्तर्गत चाक पर बनी हुई कई पात्र परम्परायें, पत्थर और हड्डियों पर बने हुये उपकरण, ताम्र उपकरण तथा लघु ब्लेड उद्योग के लघु पाषाण उपकरण सम्मिलित हैं। पात्र परम्पराओं में लाल, काले लेप वाले तथा काले और लाल पात्र परम्परायें हैं, जिनमें से अन्तिम दो को चित्रित भी किया गया है। लघु पाषाण उपकरणों में दन्तुर कटक ब्लेड भी सम्मिलित हैं। हड्डियों तथा मृगश्रृंगों के बने हुये वाणाग्र इस संस्कृति के अभिन्न अंग लगते हैं। वाणाग्र दो प्रकार के हैं - पुच्छल और छिद्रयुक्त। अधिकतर वाणाग्रों का अनुभाग गोला है लेकिन कुछ तिकोने अनुभाग वाले वाणाग्र भी प्राप्त हुये हैं। बहुत से वाणाग्र निर्माण की विभिन्न अवस्थाओं में प्राप्त हुये हैं। इस संस्कृति के लोग भी बाँस और लकड़ी की बनी झोपड़ियों में निवास करते थे। अर्द्धरत्नों और मिट्टी के बने मनके इन स्थलों से बहुतायत में मिले हैं लेकिन ताम्र उपकरणों की संख्या बहुत कम है। विहार के ओरिअप से एक ताम्रचूड़ी का उल्लेख किया जा सकता है।

---

1. सिंह पु[illegible] और मक्खनलाल, 1985, नारहन, 1983 - 85, ए प्रिलिमिनरी रिपोर्ट, भारती (बुलेटिन आफ दी डिपार्टमेन्ट आफ एन्सियन्ट इण्डियन हिस्ट्री कल्चर एण्ड आर्क्यालजी, बनारस हिन्दू यूनीवर्सिटी) एन0 एस0), 3, पृ0 144 - 186।

मृणमूर्तियों में चिरांद से उपलब्ध सिररहित चपटी चिड़ियाँ जिसे शरीर पर छिद्र करके सुसज्जित किया गया है, औरिअप से एक आदिम शैली में बनी नारी मूर्ति तथा प्रहलाद पुर से उपलब्ध खिलौना गाड़ी विशेष उल्लेखनीय हैं ।

लाल और काले, लाल तथा काले लेप की पात्र परम्परायें इस संस्कृति की चारित्रिक विशेषतायें मानी जाती हैं । उत्खनित स्थलों में इस संस्कृति के निचले धरातल में काले और लाल बर्तनों की संख्या अधिक है । चिरांद में कुछ बर्तनों पर क्रीम रंग का लेप किया गया है । बर्तन आकारों में घड़े, नाद, कटोरे और तश्तरियाँ सम्मिलित हैं । काले और लाल पात्र परम्परा के कुछ बर्तनों के भीतरी सतह पर सफेद या क्रीम रंग से चित्रण किया गया है । चित्रण अभिप्रायों में क्षैतिज अथवा तिरछी रेखायें प्राप्त होती हैं । इन बर्तनों पर चित्रण के प्रमाण सोहगौरा, प्रहलादपुर, राजघाट, नहुष राजा का टीला, बनवारी घाट तथा गुलरिहवा घाट से प्राप्त हुये हैं ।

पात्रों के आकार में विविधता के प्रमाण लाल पात्र परम्परा में प्राप्त होते हैं :- कटोरे, आधार वाले कटोरे, थालियाँ, नाद, बड़े और मध्यम आकार के घड़े तथा साधारण तश्तरियाँ, चिरांद में नवपाषाणिक संस्कृति की तरह इस संस्कृति में भी टोंटीदार बर्तन प्राप्त हुये हैं ।

काले लेप वाले पात्र परम्परा में बर्तनों के अधिक आकार नहीं मिलते हैं । कटोरे और थालियाँ ही प्राय: इस परम्परा के बर्तन हैं । सम्भवत: इस पात्र परम्परा के बर्तनों का प्रयोग खाने-पीने के लिये ही किया जाता था । इसी पात्र परम्परा से परवर्ती काल में उत्तरी कृष्ण ओपदार पात्र परम्परा का विकास

हुआ होगा । काले लेप वाली पात्र परम्परा के बर्तनों को भी सफेद या काले रंग से चित्रित किया गया है । चित्रण अभिप्राय के अन्तर्गत तिरछे और छोटी तथा बड़ी रेखायें ही प्राप्त होती है । चित्रित काले लेप वाले बर्तन चिरांद, सोनपुर, सोहगौरा, प्रह्लादपुर, राजघाट, गुलरिहवा घाट, तथा पूरे देवजानी से प्राप्त हुये हैं ।

प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा किये गये हाल के सर्वेक्षणों से मध्य गंगा घाटी के प्रतापगढ़ जिले की पट्टी तहसील में लगभग 30 ताम्र पाषाणिक स्थल प्रकाश में आये हैं । अभी तक इनमें से एक भी स्थल का उत्खनन नहीं किया गया है । लेकिन इन स्थलों से लाल, काले लेप वाले तथा काले और लाल पात्र परम्पराओं के मिट्टी के बर्तन, दन्तुरकटक ब्लेड, क्रोड और फलक से युक्त लघु ब्लेड उद्योग के लघु पाषाण उपकरण, मिट्टी तथा अर्द्ध रत्नों के मनके, बाँस-बल्ली के निसान से युक्त जली मिट्टी के टुकड़े, ताँबे की अँगूठी तथा पत्थर के सिल-लोढ़े प्राप्त हुये हैं । इस क्षेत्र के प्रमुख स्थलों में भटी [अक्षांश 25 56' 0" उत्तर, देशान्तर 82 16'0" पूर्व], गगेहटी [अक्षांश 25 49'10" उत्तर देशान्तर 82 9' 50" पूर्व], कंजा सराय गुलानी [अक्षांश 25 58' 10" उत्तर, देशान्तर 82 11'10" पूर्व], मन्दाह [अक्षांश 25 59' 0" उत्तर, देशान्तर 82 2' 25" पूर्व], पैलखवार [अक्षांश 26 1' 50" उत्तर, देशान्तर 82 7' 10" पूर्व], पूरेदेवजानी [अक्षांश 25 57' 30" उत्तर, देशान्तर 82 9' 40" पूर्व], सरोय जमुआरी [अक्षांश 25 58' 0" उत्तर, देशान्तर 82 5' 80" पूर्व] तथा [illegible] [अक्षांश 26 0'10" उत्तर, देशान्तर 82 4' 30" पूर्व] का

उल्लेख किया जा सकता है । ये स्थल मध्य पाषाणिक स्थलों की तरह ही धनुषाकार झीलों अथवा इन झीलों से निकलने वाली नदियों के किनारे स्थित हैं ।

उपलब्ध पात्र परम्पराओं में लाल, काले लेप वाले, काले और लाल रंग के पात्र प्राप्त हुये हैं । कभी-कभी लाल पात्र परम्परा के बर्तनों के भीतरी सतह पर काला तथा ऊपरी सतह पर लाल लेप है । काले लेप के कुछ बर्तनों के भीतरी सतह पर सफेद तथा बाहरी सतह पर काले रंग से चित्र बनाये गये हैं । चित्रण अभिप्रायों में खड़ी तथा तिरछी मोटी रेखायें सम्मिलित हैं । इन स्थलों से पात्रों के जो आकार उपलब्ध हुये हैं उनमें कटोरे, आधार वाले कटोरे, होंठदार कटोरे, थालियाँ, नाद, पेर वाले छिद्र युक्त नाँद, बीकर और विभिन्न आकार के घड़े उल्लेखनीय हैं । लाल पात्र परम्परा के कुछ बर्तनों की बाहरी सतह पर खड़ी या तिरछी रेखायें उत्कीर्ण करके अलंकृत किया गया है और कभी-कभी आसंजन विधि से अंगुलियाँ दबाकर रस्सी की आकृति का अलंकरण भी बनाया गया है । उत्खनन के अभाव में मध्य गंगा घाटी के पश्चिमी क्षेत्र की इस संस्कृति के स्वरूप के बारे में हमें अधिक विस्तृत ज्ञान नहीं है लेकिन पात्र प्रकारों, चित्रण अभिप्रायों और लघु पाषाण उपकरणों के आधार पर मध्य गंगा घाटी के सम्पूर्ण ताम्रपाषाणिक स्थलों से इस संस्कृति का एक ही स्वरूप आभासित होता है ।

मध्य गंगा घाटी की यह संस्कृति पूर्व में निम्न गंगा घाटी और दक्षिण में विन्ध्य क्षेत्र की ताम्रपाषाणिक संस्कृतियों से कई सन्दर्भों में जुड़ी हुयी प्रतीत होती है । निचली गंगा घाटी की ताम्र पाषाणिक संस्कृति के दो उत्खनित स्थल पाण्डुराजारढिवि, महिषदल और भरतपुर हैं । पश्चिमी बंगाल के वर्दवान जिले में स्थित पाण्डुराजारढिवि के उत्खनन[1] से समिमित भूरे या पीताभ, लाल काले

---

1• दास गुप्ता, पी0 सी0, 1964, एक्सकेवेशन्स एट पाण्डुराजारढिवि ।

और लाल, लाल और चमकीले लाल पात्र परम्परा के बर्तन प्राप्त हुये हैं । काले और सफेद रंग से काले और लाल तथा लाल पात्र परम्परा के बर्तनों को चित्रित किया गया है । महिषदल[1] में भी इन परम्पराओं के बर्तनों को चित्रित किया गया है । बर्तन आकारों में कटोरे, नांद, होंठदार अथवा टोटीदार कटोरे, साधारण तश्तरी और कटोरे, ढक्कन, थालियाँ, छिद्र युक्त बर्तन तथा लम्बे गले के बर्तन सम्मिलित थे । अन्य सं[illegible] सामाग्री के अन्तर्गत ताँबे के मनके, चूड़ियाँ, नहन्नी, सुरमा - सलाई, कुल्हाड़ी, हड्डियों के वाणाग्र, पिन, कंघे, चूड़ियाँ, अर्द्धरत्नों के मनके, दन्तुर कटक ब्लेड से युक्त लघुपाषाण उपकरणों का उल्लेख किया जा सकता है ।

चमकीली लाल पात्र परम्परा तथा पनारीदार टोटी के बर्तनों के मध्य गंगा घाटी में अनुपस्थिति के आधार पर मध्य गंगाघाटी और निम्न गंगाघाटी की संस्कृतियों को अलग-अलग मानने की सम्मति प्रस्तुत की गयी है[2]। लेकिन कुछ [illegible] विभेदों को छोड़कर दोनों क्षेत्रों में एक ही संस्कृति का विस्तार मानना अधिक तर्कसंगत है[3]।

मध्य गंगाघाटी के दक्षिण विन्ध्य क्षेत्र में ताम्र पाषाणिक संस्कृति के प्रमाण कई स्थलों से प्राप्त हुये हैं । ककोरिया, कोड़िहार, कोलडिहवा, मघा आदि

---

1• इन्डियन आर्क्यालिजी : ए रिव्यू 63 - 64, पृष्ठ 59 - 60 ।

2• वर्मा, वी0 एस0, 1969, ब्लैक एन्ड रेड वेयर इन बिहार पाटरीजइन एन्सियन्ट इन्डिया, पृ0 103 - 104 ।

3• मिश्र, वी0 डी0, 1970, चेल्कोलिथिक कल्चर्स आफ ईस्टर्न इन्डिया, ईस्टर्न एन्थ्रोपोलाजिस्ट ।

प्रमुख स्थल उल्लेखनीय है । क्कोरिया की ताम्र पाषाणिक संस्कृति के लोग वृहत पाषाण समाधियों के भी निर्माता थे । इस क्षेत्र की पात्र परम्परायें भी मध्य गंगा घाटी की ही तरह है । कालडिहवा में बहुत से पात्रों को चित्रित भी किया गया है और यहाँ से पुच्छल तथा छिद्रयुक्त वाणाग्र भी अत्यधिक संख्या में प्राप्त हुये हैं । बर्तनों के आकार भी दोनों क्षेत्रों में एक ही जैसे हैं । लघु पाषाण उपकरण जिनमें दन्तुर,कटक,ब्लेड भी सम्मिलित है भी दोनों ही क्षेत्रों में प्राप्त होते हैं । इस आधार पर कहा जा सकता है कि मध्य गंगा घाटी निम्न गंगा घाटी तथा उ0 विन्ध्य क्षेत्र की ताम्र पाषाणिक संस्कृति मूल रूप से एक ही संस्कृति का विस्तार है ।

उत्खनित स्थलों से उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर ताम्र पाषाणिक संस्कृति के स्थलों को प्रारंभिक और परवर्ती दो वर्गों में विभाजित किया गया है[1]। परवर्ती चरण के स्थलों में राजघाट प्रथम "ए" प्रहलादपुर प्रथम "ए" मसौन-डीह प्रथम "ए", चिरांद तीन, मांझी प्रथम, ताराडीह तीन "बी" और सेनुआर दो "बी" को रखा गया है ।

ताम्र पाषाणिक स्थल मध्य गंगा घाटी में छोटी अथवा बड़ी नदियों के तट पर या धनुषाकार झीलों के किनारे स्थित हैं । इन अधिवास स्थलों का अधिकार प्राय: छोटे अथवा मध्यम आकार का है । विस्तृत उत्खननों के अभाव में अधिवास नियोजन सम्बन्धी प्रमाण अपेक्षाकृत कम प्राप्त हुए हैं । लेकिन

---

1. मिश्र वी0डी0 और गुप्ता एम0सी0 {1996}, प्री एन0बी0पी0डब्ल्यू0 कल्चर इन द मिड्ल गंगा वैली, प्रो0 अगम प्रसाद माथुर फेलिसिटेशन वाल्यूम, पेज 21-34

बाँस बल्ली के निशान से युक्त जली मिट्टी के टुकड़े और गोलाकार झोपड़ियों के फर्शों के प्रमाण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस काल में लोग झोपड़ियों में ही निवास करते थे। जिनकी दीवालों का निर्माण बाँस और बल्ली से किया जाता था और इसके ऊपर मिट्टी का मोटा लेप लगाया जाता था। स्तम्भगर्त के प्रमाण भी ऐसा ही संकेत देते हैं। सेनुआर के उत्खनन से मिट्टी के दीवालों से घर बनाने का कुछ संकेत मिलता है। उल्लेखनीय है कि मध्य गंगा घाटी के दक्षिणवर्ती विन्ध्य क्षेत्र की ताम्र पाषाणिक संस्कृति के उत्खनित स्थलों काकोरिया और कोल्डिहवा से भी मिट्टी के दीवालों के प्रमाण उपलब्ध हुए हैं[1]। इन फर्शों पर चूल्हे भी प्राप्त हुए हैं।

मध्य गंगा घाटी की ताम्र पाषाणिक संस्कृति जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, चाक पर बने हुए रेड वेयर, ब्लेक ऐंड रेड वेयर और ब्लेक स्लिप्ड वेयर से युक्त धरातल प्राप्त होते हैं। ब्लेक ऐंड रेड वेयर और ब्लेक स्लिप्ड वेयर के पात्रों पर हल्के सफेद, क्रीम, भूरे और कभी-कभी लाल रंग के भी बर्तनों के भीतरी और बाहरी सतह पर रेखीय चित्र बनाये गये हैं। लाल पात्र परम्परा के बर्तनों पर काले रंग के चित्रण अभिप्राय मिलते हैं। इसके अतिरिक्त आसंजन विधि से उत्कीर्ण और रस्सी की छाप से अभी तक बर्तनों को अलंकृत किया गया है।

सोहगौरा और ताराडीह जैसे स्थलों से बर्तनों के पक जाने के बाद उत्कीर्ण करके अलंकरण बनाने के प्रमाण प्राप्त हुए हैं। विभिन्न प्रकार के बर्तनों

---

1. मिश्र, बी०बी० {1997}, चाल्कोलिथिक कल्चर्स आफ द विन्ध्याज ऐंड द सैंट्रल गंगा वैली, इण्डियन प्री हिस्ट्री 1980, {सम्पा०} मिश्र वी०डी० एवं पाल जे० एन०।

के आकार जिनमें छिछले और गहरे कटोरे, होठयुक्त अथवा साधार कटोरे, तस्तरियाँ, नाँद, छोटे अथवा बड़े गले के घड़े, हाँडी, लोटों के आधार के घड़े, डिस्क आँन स्टैंड, हैंडिल युक्त कड़ाही आदि उपलब्ध हुए हैं। बर्तनों के विभिन्न प्रकारों के आधार पर ऐसा लगता है कि इनका प्रयोग बड़े पैमाने पर किया जाता था। पूर्ववर्ती नव-पाषाणिक संस्कृति की तुलना में ये अधिक विकसित तकनीक से बने हैं और अच्छी तरह से पके हुए हैं। मध्य गंगा घाटी के ताम्र पाषाणिक मानवों ने अपने उपकरणों के निर्माण के लिए ताँबे, हड्डी, हिरण की सींग और पत्थरों का प्रयोग किया। उल्लेखनीय है कि ताँबे का प्रयोग अपेक्षाकृत कम हुआ है। क्योंकि ताँबे को गलाने की भट्टी के स्पष्ट प्रमाण कहीं से नहीं मिले हैं। इसलिए ऐसा कहा जा सकता है कि ये लोग ताँबे के उपकरणों का निर्माण स्वयं करते थे अथवा ये उपकरण बाहर से लाये जाते थे। लघु पाषाण उपकरण तथा पत्थर के अन्य उपकरणों के लिए इस क्षेत्र का ताम्र पाषाणिक मानव विन्ध्य क्षेत्र पर निर्भर था। दोनों क्षेत्रों के ताम्र-पाषाणिक संस्कृति के अन्य अवयवों से भी दोनों पारस्परिक आदान-प्रदान के प्रमाण उपलब्ध हुए हैं[1]।

इस संस्कृति का मानव, मनके लटकन, चूड़ियाँ, छल्ले, कुण्डल आदि आभूषणों का प्रचुर प्रयोग करता था। चर्ट, चाल्सिडनी, कार्नेलियन, क्वार्टज और मिट्टी, हड्डी, सीप, फ्यांस और स्टीएटाइट एवं ताँबे आदि के बने हुए मनके प्राप्त हुए हैं। अन्य पाषाण उपकरणों में हथौड़े, सिल लोढे, हथगोले आदि सम्मिलित हैं।

---

1. पाल जे०एन० [1995], चाल्कोलिथिक विन्ध्याज , भारती नं० 5, पेज 13-19 ।

कुछ स्थलों से निरक्षारण [illegible] भी प्राप्त हुए हैं। क्योंकि लघु पाषाणिक उपकरणों की तरह इन स्थलों पर ब्ने मनके भी निर्माण की विभिन्न अवस्थाओं में मिलते हैं। इससे कहा जा सकता है कि इनका निर्माण इन्हीं स्थलों पर किया गया होगा। कई ताम्र पाषाणिक स्थलों पर आवासीय जमाव बहुत अधिक है। [दो मीटर तक] इससे लगता है कि इन स्थलों पर ताम्र-पाषाणिक मानव लम्बे समय तक रहता रहा जो उनके स्थाई निवास का प्रमाण है। इन स्थलों से प्राप्त कुछ अस्थि अवशेषों और वानस्पतिक अवशेषों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मध्य गंगा घाटी का ताम्र पाषाणिक मानव कृषक और पशुपालक था। लेकिन उसे संभवत: मांसाहार के लिए आखेट और मछली पकड़ने का कार्य करना पड़ता था। कृषि द्वारा उत्पादित अनाजों में चावल, जौ, तीन प्रकार के गेहूँ, मटर, मूँग, सरसों तथा तिलहन सम्मिलित हैं। कटहल, अंगूर और तुलसी जैसी वनस्पतियों के प्रमाण प्राप्त होते हैं। पशुओं में कूबड़ युक्त बैल, भैंसे, भैंड़, बकरी, कुत्ता और सूअर के अतिरिक्त विभिन्न प्रजातियों के हिरण भी प्राप्त हुए हैं।

मध्य गंगाघाटी की ताम्र पाषाणिक संस्कृति को चिरांद से उपलब्ध कार्बन तिथियों के आलोक में 1600 ई0पू0 से 800 ई0पू0 के मध्य रखा जा सकता है[1]। टी0 एफ0 1028-1540±90 ई0पू0, टी0एफ0 444-715±105 ई0पू0 के आधार पर यह तिथिक्रम निर्धारित किया गया। सोहगौरा से भी दो कार्बन तिथियाँ 1330±110 ई0पू0 और 1230±130 ई0पू0 प्राप्त हुयी। मध्य गंगा घाटी में ताम्रपाषाणिक काल के बाद प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल का प्रारम्भ होता है जबकि लोहे का व्यापक प्रयोग होने लगता है और उत्तर कृष्ण ओपदार पात्र परम्परा का प्रसार होता है।

---

1. मण्डल, डी, 1972, रेडियो कार्बन डेट्स एण्ड इण्डियन आक्योलाजी, पृ0 126।

प्रारम्भिक ऐतिहासिक संस्कृति :-

प्रारम्भिक ऐतिहासिक कालीन संस्कृति का सम्बन्ध मध्य गंगा घाटी में लोहे का प्रथम प्रयोग से है । जो प्राक एन0बी0पी0 [उत्तरी काली चमकीली मृदभाण्ड परम्परा] धरातल से कृष्णलोहित पात्र परम्परा [बी0आर0डब्ल्यू0] के साथ प्राप्त होता है, परन्तु इस क्षेत्र की कृष्णलोहित पात्र परम्परा मुख्यत: ताम्र पाषाणिक संस्कृति से सम्बन्धित है । यद्यपि इस संस्कृति के परवर्ती चरण से लोहे का प्रमाण मिलने लगता है, लेकिन सम्भवत: लोहे के प्रारम्भिक ज्ञान ने अभी उनकी अर्थ-व्यवस्था में कोई बड़ा परिवर्तन नहीं किया था । इस क्षेत्र में लोहे का व्यापक प्रचलन जिसने सांस्कृतिक स्वरूप को पूर्णत: परिवर्तित करके एक नया आयाम प्रदान किया, एन0 बी0 पी0 संस्कृति से सम्बन्धित है । ऐसा प्रतीत होता है कि एन0 बी0 पी0 संस्कृति की प्रमुख पात्र परम्परा एन0बी0पी0 संस्कृति की प्रमुख पात्र परम्परा एन0बी0पी0 पूर्ववर्ती जो कृष्णलोहित पात्र-परम्परा [ब्लेक स्लिप्ड वेयर] है, से ही विकसित हुई । इस क्षेत्र की एन0बी0पी0 संस्कृति के स्वरूप का संक्षिप्त विवरण निम्न है ।

एन0 बी0 पी0 मृदभाण्ड-परम्परा की संस्कृति भारतीय पुरातत्व के इतिहास के एक अत्यन्त उज्ज्वल अध्याय का सूत्रपात करती है । गंगा घाटी में इस पात्र-परम्परा के साथ द्वितीय नगरीय क्रान्ति' का इतिहास आरम्भ होता है । लोहे के ओजार बनाने की तकनीक के दक्षिण बिहार के लौह अयस्क [आयरन ओर्स] से समृद्ध क्षेत्रों में पहुंच जाने के बाद व्यापक पैमाने पर लौह उपकरणों का निर्माण तथा प्रयोग सम्भव हुआ । जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में लौह उपकरण की प्रधानता वस्तुत: परिलक्षित होने लगी थी । लौह तकनीक के व्यापक प्रचलन का

प्रभाव कृषि-कार्य में ही नहीं बल्कि घरेलू उद्योगों तथा वास्तु कला पर भी पड़ा। इस प्रकार एक अत्यन्त जटिल आर्थिक जीवन की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई।

सम्बद्ध मृदभाण्ड एन0 बी0 पी0 पात्र-परम्परा के साथ-साथ जन-साधारण द्वारा प्रयुक्त मृदभाण्ड तथा दैनिक जीवन में काम आने वाली कई प्रकार की पात्र-परम्पराएँ भी मिलती हैं, उदाहरण के लिए §1§ मोटे गढ़न के अलंकृत धूसर मृदभाण्ड § थिक प्लेन ग्रे वेयर §, §2§ कृष्ण-लोपित मृदभाण्ड §ब्लैक स्लिप्ड वेयर§, §3§ लाल रंग के मृदभाण्ड § रेड वेयर § तथा §4§ कृष्ण लोहित मृदभाण्ड §ब्लैक एण्ड रेड वेयर§। बड़े-बड़े घड़े, मटके, तसले, नाँद §ट्राफ्स§ आदि बर्तन प्रकार इन पात्र-परम्पराओं से मुख्य रूप से मिलते हैं। इन मृदभाण्डों के नये-नये प्रकार लोगों की बढ़ती हुई माँग को पूरा करते थे। विभिन्न प्रकार के बर्तनों की बढ़ती हुयी माँग से जनसंख्या वृद्धि का पता चलता है। एन0 बी0 पी0 की तुलना में इन मृदभाण्डों की प्रचुरता इनके सहज-सुलभ और उपयोगी होने का संकेत करती है।

यद्यपि लोहे का प्रचलन चित्रित धूसर पात्र-परम्परा के काल में लगभग 1000 ई0 पू0 में उत्तर भारत में हो गया था लेकिन एन0 बी0 पी0 काल में लोहे के व्यापक स्तर पर प्रयोग के संकेत मिलते हैं जिससे लौह-अयस्क को पिघलाने और प्राप्त लोहे को पीटकर उपकरण बनाने की तकनीक में प्रगति परिलक्षित होती है। लोहे के उपकरणों के बड़े पैमाने पर उपयोग से तत्कालीन लोगों के आर्थिक जीवन में उल्लेखनीय परिवर्तन हुए। प्रमुख लौह-उपकरणों में बाण-फलक, भाले के शीर्ष, बल्लम के शीर्ष, बर्छी, कटार, चाकू, हँसिया, खुरपी, कीलें, बसूला, छेनी, कड़ाही तथा दीपक आदि हैं। उत्खनन से प्राप्त लौह-

धातुमल, धातु-विगलन का संकेत देते हैं। खेती के कार्य - विशेषकर जुताई के कार्य में लोहे के बने हुए फलकों [आयरन प्लग शेयरस] के प्रयोग से गांगेय क्षेत्र की चूने से युक्त कड़ी जलोढ़क मिट्टी पर कृषि-कार्य अधिक आसान हो गया। लोहे के बर्मे [ड्रिल्स], बसूले [एडजेस], छेनियों एवं खानियों के निर्माण से विभिन्न शिल्प-कार्यों - विशेषकर लकड़ी की वस्तुओं के बनाने में विशेष प्रगति हुई। लोहे की लोकप्रियता के कारण तांबे का प्रयोग अपेक्षाकृत सीमित होता गया। तांबे का प्रयोग अब सिक्कों के निर्माण, अंकन-शलाकाओं, खिलौनों, मुद्रिकाओं [ रिंग्स ] तथा मनकों आदि के बनाने में किया जाने लगा।

कृषि एवं पशुपालन इस काल में जीविका के प्रमुख साधन थे। काफी विस्तृत भू-भाग में खेती की जाने लगी थी। चावल, गेहूँ, जौ तथा दलहन आदि इस काल के प्रमुख खाद्यान्न थे। पशु-पालन इनके आर्थिक जीवन का दूसरा प्रमुख आधार था। पालतू पशुओं में गाय-बैल, भैंस, भेड़, बकरी, घोड़े तथा सूअर आदि की गणना की जा सकती हैं। इन पशुओं की हड्डियाँ विभिन्न पुरा-स्थलों के उत्खनन से प्राप्त हुई हैं। समाज का काफी बड़ा हिस्सा सम्भवत: मांसाहारी था। पशुओं की कुछ हड्डियों पर वध [हलाल] करने के निशान मिलते हैं। इस प्रकार पशुओं को केवल भारवहन [ड्राट ] के लिए ही नहीं पाला जाता था बल्कि घी, दूध, मांस के लिए भी उनकी उपयोगिता थी। मछेरे के जाल को डुबाने के लिए प्रयुक्त मिट्टी की बनी हुई गोलियां [ टेराकोटा] नेट[सिंकर्स] मछली पकड़ने का परोक्ष साक्ष्य प्रस्तुत करती है। जंगली पशुओं जैसे हिरण आदि का शिकार भी किया जाता था। एन० बी० पी० संस्कृति की एक अन्य प्रमुख विशेषता सिक्कों के सर्वप्रथम प्रचलन को माना जा सकता है।

लगी । आर्थिक आवश्यकताओं के बढ़ते दबाव से सिक्कों का चलन शुरू हुआ । ताम्र और रजत के बने हुए आहत सिक्के ‖ पन्च मार्कड क्वाइन्स ‖ भारत के प्राचीनतम सिक्केमाने जाते हैं । ताँबे तथा चाँदी से निर्मित लेख रहित ढली हुई मुद्राओं ‖ यूनिनस्क्राइब्ड कास्ट क्वाइन्स ‖ की गणना आहत मुद्राओं के समकालीन सिक्कों के रूप में की जा सकती है । सिक्कों के प्रचलन से एन0बी0 पी0 पात्र-परम्परा के काल में व्यापार-वाणिज्य के क्षेत्र में विशेष उन्नति हुई । व्यापारियों और ब्याज पर रूपया उधार देने वाले सेठ-साहूकारों का उल्लेख छठीं शताब्दी ई0 पू0 के नगरीय समाज के एक अभिन्न अंग के रूप में तत्कालीन साहित्य में भी मिलता है ।

वास्तु कला के क्षेत्र में भी इस काल में उल्लेखनीय प्रगति हुई तथापि इस दिशा में सर्वत्र एक जैसी प्रगति हुई । अधिकांश उत्खनन सीमित तथा सूच्यांक ‖ इनडेक्स ‖ प्रकार के हैं इसलिए वास्तुकला के विषय में प्राप्त जानकारी अपूर्ण एवं एकांगी है । यद्यपि इस काल में भी मिट्टी, घास-फूस और बाँस-बल्ली के बने हुए कच्चे मकानों का निर्माण होता रहा तथापि भट्टे में पकाई गई ईंटों का प्रयोग भवनों के निर्माण के लिए अधिकाधिक मात्रा में होने लगा । हस्तिनापुर, अतरंजीखेड़ा, मथुरा, कौशाम्बी, राजघाट, उज्जैन तथा वहाल उत्खननों से प्रमाण मिलते हैं । नगरों की सुरक्षा के लिए 'रक्षा-प्राचीर' तथा 'परिखा' के निर्माण के प्रमाण अहिच्छत्र, कौशाम्बी, राजगृह तथा उज्जैन आदि से प्राप्त हुए हैं । रक्षा-प्राचीरों का निर्माण मिट्टी के बने हुए भीटों के रूप में किया जाता था । कभी-कभी रक्षा-प्राचीरों की बाहरी सतहों पर पकी हुई ईंटे चुन दी जाती थी ताकि रक्षा-प्रचीर और अधिक मजबूत हो जाए । इस काल

के नगरों के कुछ भवनों में स्वच्छता तथा सफाई की दृष्टि से मृत्तिका-वलय-कूपों ‖ टेराकोट्टा रिंग वेल्स ‖ एवं सछिद्र घड़ों को जोड़कर सोख्ता गड्ढों ‖ सूकेज पिट्स ‖ का निर्माण किया जाता था। स्वच्छता की ऐसी व्यवस्था कुछ खास घरों मे ही मिलती है। कौशाम्बी में पकी ईंटो की बनी हुई ढकी और खुली नालियाँ तथा मिट्टी के पाइपों ‖ पोट्री पाइप ड्रेन्स ‖ की बनी हुई सार्वजनिक नालियाँ इस काल के स्तरों से मिली है। जिससे इनकी स्वच्छता एवं सफाई का पता चलता है।

मृण्मूर्तियों के निर्माण के क्षेत्र में एन0 बी0 पी0 संस्कृति के काल में पर्याप्त प्रगति हो चुकी थी। पूर्ववर्ती चित्रित धूसर पात्र-परम्परा काल की मृण्मूर्तियों की तुलना यदि इस काल के मृण्मूर्तियों से की जाए तो यह भेद अधिक स्पष्ट हो जायेगा। हाथी, घोड़े, वृषभ-कुत्ते, भैंड़, हिरण आदि पशुओं और कच्छप, सर्प आदि सरीसृपों एवं चिड़ियों की हस्त - निर्मित मूर्तियाँ हैं। पशुओं की मृण्मूर्तियों का निर्माण अत्यन्त कुशलता के साथ किया गया है। आँखों को एक गोले ‖ वृत्त ‖ के अन्दर छेद करके बनाया गया है। पशुओं की मृण्मूर्तियों को छोटे-छोटे गोलों ‖ सर्किलिट्स ‖ के ठप्पे लगा कर ‖ पन्च ‖, गहरे रेखांकन ‖डीप इनसाइड लाइन्स ‖ तथा किसी चीज से दबाकर बनायी गयी पत्तियों ‖इम्प्रेस्ड लीफ डिजाइन्स‖ के द्वारा सजाया-सँवारा गया है। अधिकांश मृण्मूर्तियाँ लाल रंग की हैं जिनके उपर गेरू के गहरे घोल का प्रलेप ‖ रेड स्लिप ‖ चढ़ाया गया है। धूसर तथा काले रंग की पशु-मृण्मूर्तियों के उदाहरण भी अहिच्छत्र, मथुरा एवं वैशाली आदि से मिले हैं।

पशुओं की मृण्मूर्तियों के अलावा मानव मृण्मूर्तियाँ भी उपलब्ध हुई है। प्रायः अधिकांश पशु-मृण्मूर्तियाँ हाथ से बनायी हुई मिलती हैं। मानव-मृण्मूर्तियों के साँचे [माउल्ड] में ढालकर [कास्ट] बनाये गए कतिपय नमूने भी मिले हैं। हस्तनिर्मित मानव-मृण्मूर्तियों में हाथों और पाँवों का निर्माण स्टम्प अथवा ठूंठे [स्टंप] के रूप में किया गया है। आँखों को एक छोटे से वृत्त अथवा केवल रेखांकन के द्वारा और बालों को प्रदर्शित करने के लिए सिर पर गहरी रेखाएँ खींच दी गई हैं तथा नाक बनाने के लिये मिट्टी को चुटकी से दबा दिया गया है। परवर्ती चरण में बड़े-बड़े कर्णपटल [ईयरलोब्स] और उनमें चक्राकार कर्णफूल [ रोजेटेस ], गले में भारी कामदार हारावली आदि का निर्माण चिपकवाँ विधि से किया गया है। स्त्री-मृण्मूर्तियों को भव्य शिरोवेशभूषा, कर्णाभरण एवं हारावली से अलंकृत कियागयाहै। स्त्री-मृण्मूर्तियों के वस्त्रालंकरण पर्याप्त तथा लहराते हुए [फ्लोईंग] बनाये गये हैं। हस्तिनापुर के उत्खनन से एन० बी० पी० परम्परा के परवर्ती स्तर [लेट लेविल] से प्राप्त प्रोषित-पतिका नवोढ़ा की मूर्ति विशेष उल्लेखनीय हैं। ऊर्ध्ववसना, तन्वंगी के पृथुल नितम्बों तथा पीन पयोधरों का स्थापन बड़ा ही मनोहर बन पड़ा है। इसके बाएँ हाथ में एक तोता बैठा हुआ है, दाहिने हाथ में फलों का गुच्छा है। ऐतिहासिक काल में इसी कथा-वस्तु को लेकर मृण्मूर्तियाँ ही नहीं अनेक प्रस्तर-मूर्तियों का भी निर्माण हुआ है। हस्तिनापुर तथा कुम्हरार के उत्खनन से प्राप्त कतिपय मृण्मूर्तियों को तन्वंगी, पृथुल नितम्ब और छोटे-छोटे पाँवों वाली बनाया गया है। हस्तिनापुर

से प्राप्त पशुमानवीय-मृण्मूर्ति (थेरिन थारोपिक फीगर) की भी इस सन्दर्भ में चर्चा की जा सकती है । इस मृण्मूर्ति की मुखाकृति मानव (ह्यूमन फेस) की और शरीर पशु (एनीमलबाड़ी) का है । ठुड्ढी को चुटकी से दबाकर इस प्रकार बनाया गया है ताकि वह दाढ़ी (बियर्ड) की भाँति प्रतीत हो । इस मृण्मूर्ति के पूरे शरीर को गलाकर छापे लगाकर सजाया गया है । गर्दन के निकले भाग में एक छिद्र बना है जिसमें संभवतः एक डोरी डालकर इसको आगे-पीछे झुलाया जा सकता है । मृण्मूर्तियों का निर्माण खिलौनों के रूप में तो होता ही रहा होगा लेकिन इस बात की संभावना से इंकार नहीं किया जा सकता है कि यदि इसमें से कुछ के निर्माण के पीछे धार्मिक भावना का भी कुछ हाथ रहा हो । मृण्मूर्तियों के अतिरिक्त एन0 बी0 पी0 के स्तरों से प्राप्त लडचिह्न सिक्के डालने के साँचों का भी उल्लेख किया जा सकता है । मिट्टी की बनी हुई राजमुद्राएँ (सेल्स), राजमुद्रांक (सीलिंग्स), कुम्भकार की थापी (पोटर्स डेबर्स) और कुम्भाकर के ठप्पे (पोटर्स स्टेम्प) भी प्राप्त हुए हैं ।

(मनके एन0 बी0 पी0 पात्र-परम्परा) इस संस्कृति के लोगों ने अपनी परिष्कृत अभिरुचि का परिचय विभिन्न प्रकार के आभूषणों के निर्माण के माध्यम से दिया है , उदाहरण के लिए विभिन्न पुरास्थलों के उत्खनन से एन0 बी0 पी0 के स्तरों से माणिक्य के मनके और चूड़ियाँ, कड़े तथा अँगूठियाँ मिली हैं । पत्थर, गोमेद तथा काँच के बने हुए बेलनाकार गोलाकार एवं त्रिभुजाकार मनके अधिक प्रचलित थे । चूड़ियाँ

बनाने के लिए ताँबे का विशेष रूप से उपयोग किया जाता था । इसके अतिरिक्त मिट्टी, माणिक्य, काँच, हाथीदाँत, हड्डी आदि के बने हुए मनके, चूड़ियाँ और अंगूठियाँ मिली हैं । प्रसाधन-सामग्री में अंजन-शलाकाएँ ताँबे की बनी हुई पिनें, हड्डी और हाथीदाँत की बनी हुई कंघियाँ, नख-कर्तक ‖नेल पेरेर्स‖ एवं मृण्मय देह-मर्दक या झाँवा ‖टेराकोटा फ्लेश-रबर्स आदि की भी गणना अन्य उल्लेखनीय पुरावशेषों में की जा सकती है ।

इस संस्कृति के उत्खनित पुरास्थलों से बहुत बड़ी संख्या में हड्डी के बने हुए उपकरण प्राप्त हुए हैं । इनको पुराविदों ने बाण-फलक ‖ऐरो प्वाइंट्स‖ अथवा अस्थि निर्मित बेधक ‖बोन प्वाइन्ट्स‖ तथा लेखनी ‖स्टाइल्स‖ आदि नाम दिये हैं । यदि इन्हें बाण-फलक मान लिया जाए तो यह संभावना है कि पक्षियों आदि का शिकार करने में इनका उपयोग होता रहा होगा । यदि स्टाइल्स या लेखनी कहें तो फिर यह मानना पड़ेगा कि ये लिखने के काम में आती रही होंगी । इस प्रकार हम यह देखते हैं कि प्रारंभिक ऐतिहासिक काल एन0 बी0 पी0 काल में लोगों के सांस्कृतिक जीवन में पर्याप्त प्रगति हो चुकी थी । जीवन अत्यन्त जटिल हो चुका था । 'नगरीय क्रान्ति' के फलस्वरूप भौतिक जीवन काफी समृद्ध हो गया था ।

मध्य गंगा घाटी क्षेत्र ‖ पूर्वी उत्तर प्रदेश, बिहार ‖ में कृष्ण-लोहित पात्र-परम्परा के पहले के स्तरों से एन0 बी0 पी0 मिलती है । एन0 बी0 पी0 पात्र-परम्परा से संबन्धित पुरास्थल मुख्यतः मध्य गंगा घाटी

में दिखलायी पड़ते हैं । अतः यह प्रश्न सहज ही उठ खड़ा होता है कि क्या इस पात्र-परम्परा का उद्भव मध्य गंगा घाटी में हुआ ? बीसवीं शती के छठें दशक में किसी पुराविद् को इस बात की जानकारी नहीं थी कि मध्य गंगा घाटी में एन० बी० पी० से पहले कोई पात्र-परम्परा रही होगी । हस्तिनापुर के उत्खनन के बाद मध्य गंगा घाटी तथा उत्तरी विन्ध्य क्षेत्र में विभिन्न पुरास्थलों पर जो उत्खनन कार्य हुए हैं, उनसे हमारी पुरातात्त्विक जानकारी में वृद्धि हुई है । इस क्षेत्र में ताम्र-पाषाणिक स्तरों से कृष्ण- लेपित मृद्भाण्ड मिलते हैं । ये पात्र एन० बी० पी० के पूर्ववर्ती स्तरों से प्राप्त होते हैं जो कालान्तर में एन० बी० पी० के स्तरों में भी मिल जाते हैं । इस आधार पर इस बात की प्रबल संभावना है कि मध्य गंगा घाटी और उत्तरी विन्ध्य क्षेत्र की कृष्ण-लेपित पात्र-परम्परा से [illegible] बहुसंख्यक पुरास्थल दिखलायी पड़ते हैं । यही नहीं इस क्षेत्र के पुरास्थलों पर एन० बी० पी० पात्र-खण्ड बहुत बड़ी संख्या में मिलते हैं ।

इस संस्कृति से सम्बन्धित अनेक पुरास्थल अभी तक खोज निकाले गये हैं और इनमें से कुछ पुरास्थलों पर उत्खनन भी हुआ है । उक्तानुसार इनके तिथिक्रम को [illegible] किया जा सकता है । ऐसे पुरास्थलों में उत्तर प्रदेश के बहराइच जिले में स्थित श्रावस्ती के टीले का उत्खनन उल्लेखनीय है । यहाँ पर के० के० सिन्हा के नेतृत्व में उत्खनन हुआ है । सिन्हा का मत है कि एन० बी० पी० के वास्तविक महत्त्व को उसके सही पुरातात्त्विक परिप्रेक्ष्य में रखकर ही आँका जा सकता है । एन० बी० पी० दो सर्वथा भिन्न सन्दर्भों में मिलती है : प्रथम आरम्भिक तथा द्वितीय निश्चयेन परवर्ती सन्दर्भ में । इस

आधार पर एन0 बी0 पी0 का तिथिक्रम निर्धारित किया जा सकता है । एन0 बी0 पी0 पात्र-परम्परा का प्रारम्भिक चरण तक्षशिला, कौशाम्बी, राजघाट {वाराणसी}, श्रावस्ती, वैशाली तथा राजगिरि में प्राप्त होता है । इसका परवर्ती स्वरूप चरसद्दा, रोपड़, हस्तिनापुर, उज्जैन और नवदाटोली में मिलता है । आरम्भिक पुरास्थलों जैसे कौशाम्बी, श्रावस्ती, वैशाली तथा राजगिरि में इसका तिथिक्रम 500 - 300 ई0पू0 के मध्य निर्धारित किया जा सकता है । परवर्ती श्रेणी के पुरास्थलों जैसे रोपड़, हस्तिनापुर, कुम्हरार तथा उज्जैन में इसका प्रचलन लगभग 350 ई0 पू0 के पहले नहीं हुआ ।

पुरातात्त्विक साक्ष्यों के आधार पर एन0 बी0 पी0 पात्र-परम्परा का जो तिथिक्रम प्रस्तावित किया है, उससे कुछ पुराविद् सहमत नहीं हैं । इनमें से डी0 एच0 गार्डेन तथा आर0 ई0 एम0 व्हीलर के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं । डी0 एच0 गार्डेन के अनुसार उपलब्ध पुरातात्त्विक साक्ष्यों के परिप्रेक्ष्य में एन0 बी0 पी0 को 400 ई0 पू0 से पहले कदापि नहीं रखा जा सकता है । इसके व्यापक प्रचलन का काल चौथी नहीं बल्कि दूसरी शताब्दी ई0 पू0 प्रतीत होता है । व्हीलर की सम्मति है कि एन0 बी0 पी0 पात्र - परम्परा के प्रचलन का काल पाँचवी से दूसरी शताब्दी ई0 पू0 के मध्य माना जा सकता है । व्हीलर ने पाकिस्तान स्थित चरसद्दा और उदयग्राम से प्राप्त पुरातात्त्विक प्रमाणों के आधार पर उत्तर-पश्चिम के परिधीय क्षेत्र में एन0बी0 पी0 के प्रचलन का समय 320-150 ई0 पू0 के बीच तथा गंगा के मैदान में स्थित केन्द्रीय क्षेत्र के पुरास्थलों पर इस तिथि से कुछ शताब्दियाँ पहले इसके प्रचलन की सम्भावना व्यक्त की है ।[1]

भारत, पाकिस्तान तथा नेपाल से कुल मिलाकर लगभग दो सौ से अधिक एन0 बी0 पी0 पात्र-परम्परा से सम्बद्ध पुरास्थल प्रकाश में आ चुके हैं जिनमें से लगभग आधे से अधिक पुरास्थल तो केवल गांगेय क्षेत्र में ही स्थित है। इनमें से कई पुरास्थलों पर समय-समय पर उत्खनन कार्य भी हुए हैं। उत्खनित पुरास्थलों में से लगभग एक दर्जन से अधिक पुरास्थलों के एन0 बी0 पी0 स्तरों की रेडियो कार्बन तिथियाँ ज्ञात हैं। ऐसे पुरास्थलों में रोपड़, हस्तिनापुर (वाराणसी), कुम्हरार, राजगिरि, बेसनगर, उज्जैन तथा कायथा आदि प्रमुख हैं। रेडियो कार्बन तिथियों के आधार पर एन0 बी0 पी0 मृदभाण्ड परम्परा के तिथिक्रम पर नये सिरे से विचार किया जाने लगा है। जिन पुरास्थलों से अपेक्षाकृत प्राचोत्तर रेडियो कार्बन तिथियाँ उपलब्ध हुई हैं वे हैं : अतरंजीखेड़ा, मथुरा, कौशाम्बी, राजघाट और उज्जैन आदि।

रेडियो कार्बन तिथियों के आधार पर यह ज्ञात होता है कि छठी शताब्दी ई0पू0 के मध्य तक यह पात्र-परम्परा अस्तित्व में आ चुकी थी। इलाहाबाद जिले की सोरांव तहसील में स्थित श्रृंगवेरपुर के पुरास्थल से एन0 बी0 पी0 पात्र-परम्परा के सम्बन्ध में एक ताप-संदीप्तक (उष्मा-दीप्ति) तिथि प्राप्त हुई है जिसके आधार पर इस पात्र-परम्परा की तिथि को 800 ई0 पू0 में रखने का आग्रह किया गया है। भारतीय पुरातत्व में उष्मा-दीप्ति के आधार पर निर्धारित तिथियाँ बहुत कम हैं। अन्य देशों के सन्दर्भ में भी अभी तक इस तरह की तिथि-प्रणाली प्रयोग के स्तर पर ही है। अतः श्रृंगवेरपुर की उष्मा-दीप्ति तिथि को अन्तिम रूप से एन0 बी0 पी0 की प्राचीन तिथि के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता है। इसी प्रकार मथुरा से प्राप्त

रेडियो कार्बन तिथि अपनी तरह की अकेली तिथि है। जब तक कतिपय अन्य पुरास्थलों से भी एन0 बी0 पी0 के स्तरों से छठी शताब्दी ई0 पू0 के पहले की तिथियाँ न मिल जाएँ तब तक ये तिथियाँ विवाद की परिधि से परे नहीं मानी जा सकती हैं।

प्रश्न है कि क्या इस तरह की पात्र-परम्परा छठी शताब्दी ई0पू0 के पहले अस्तित्व में आ चुकी थी ? यह पात्र-परम्परा कब तक चलती रही ? यह दूसरा प्रश्न भी कुछ हद तक विवादास्पद है। यद्यपि इस बात के संकेत हैं कि द्वितीय शताब्दी ई0पू0 के पहले ही यह पात्र-परम्परा अपनी लोकप्रियता क्रमशः खोती जा रही थी उस समय तक इसका प्रचलन बहुतसीमित हो गया था। इसबात की संभावना से तथापि इंकार नहीं किया जा सकता कि मध्य गंगा घाटी में कुछ ऐसे क्षेत्र रहे होंगे जहाँ यह पात्र-परम्परा बाद की शताब्दियों में भी चलती रही, उदाहरण के लिये वाराणसी जिले की चकिया तहसील में स्थित हतिम [illegible] नामक स्थान से इस पात्र-परम्परा की रेडियो कार्बन तिथि प्रथम शताब्दी ई0पू0 ज्ञात है लेकिन यह एकाकी तिथि है जिसे स्वीकार करने में पुराविदों को किंचित संकोच होना स्वाभाविक है। इस बात की सम्भावना फिर भी बनी रह जाती है कि यह पात्र-परम्परा प्रथम शताब्दी ई0पू0 तक कुछ क्षेत्रों में चलती रही हो।

मध्य गंगा घाटी के प्रारम्भिक इतिहास से संबंधित एन0 बी0 पी0 संस्कृति के पुरास्थल अधिकांशतः कई सांस्कृतिक जमाव से युक्त हैं। जिन स्थलों से इस संस्कृति के पहले के {नव पाषाणिक अथवा ताम्र पाषाणिक} जमाव भी मिलते हैं। उनका [illegible] { चिरांद, चेचरकुतुबपुर, ताराडीह,

सेनुवार, सोहगौरा, इमलीडीह, भूनाडीह, धुरियापार, खेराडीह, मांझी, मनेर, ओरियप, चम्पा, सोनपुर, राजघाट, प्रहलादपुर, सरायमोहना, कमोली, मसोन-डीह और नरहन ‖ इसके पूर्व में दिया जा चुका है, लेकिन जिन स्थलों पर संस्कृतियों का प्रारम्भ एन0 बी0 पी0 डब्ल्यू0 संस्कृति से होता है, ऐसे उत्खनित स्थलों का संक्षिप्त विवरण निम्न है (रेखाचित्र-7)।

कौशाम्बी :- कौशाम्बी के ध्वंशावशेष उत्तर प्रदेश के इलाहाबाद जिलेमेंमंझनपुर तहसील के 'कोसम इनाम' और 'कोसम खिराज' नामकगांवों के बीच में स्थित है। यह पुरास्थल इलाहाबाद शहर से दक्षिण-पश्चिम दिशा में लगभग 52 किलो-मीटर की दूरी पर यमुना नदी के बायें किनारे पर स्थित है। कौशाम्बी को भारतीय पुरातत्व के मानचित्र पर रखने का श्रेय अलेक्जेन्डर कनिंघम को है जिन्होंने सन् 1861 ईसवी में यहाँ की यात्रा की थी। अपने सर्वेक्षण के आधार पर वे इस नतीजे पर पहुँचे थे कि कोसम ही प्राचीन क[illegible] था। कौशाम्बी में भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण की ओर से सन् 1936-37 में एन0 जी0 मजूमदार ने उत्खनन कार्य प्रारम्भ किया था। इलाहाबाद विश्वविद्यालय की ओर से स्वर्गीय जी0 आर0 शर्मा ने सन् 1949 से लेकर 1964-65 तक यहाँ पर उत्खनन कराया था कौशाम्बी के टीले में मानव-आवास के चिन्ह लगभग 6•45 किलोमीटर की परिधि में फैले हुए हैं। कौशाम्बी का टीला एक जटिल रक्षा-प्राचीर ‖परकोटे‖ से घिरा हुआ था जो आयताकार रूप में फैली हुई है। इस परकोटे का आधार यमुना नदी है जिनसे रक्षा-प्राचीर अर्द्ध-वृत्त बनाती है। कौशाम्बी में अभी तक चार विभिन्न क्षेत्रों में उत्खनन हुए हैं :

1• अशोक - स्तम्भ क्षेत्र

2• घोषिताराम विहार क्षेत्र,

3• पूर्वी प्रवेश-द्वार के पास रक्षा-प्राचीर,

4• राजप्रासाद क्षेत्र ।

<u>अशोक-स्तम्भ क्षेत्र</u> - कौशाम्बी टीले के मध्यवर्ती भाग में जहाँ पर भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण की ओर से एन0 जी0 मजूमदार ने उत्खनन कराया था, वहाँ पर अशोक का लेख-रहित एक पाषाण स्तम्भ मलवे में दबा हुआ मिला था । उसको उसी स्थान पर खड़ा कर दिया गया है । इसलिए इस क्षेत्र को अशोक-स्तम्भ क्षेत्र नाम दिया गया है । सन् 1949 तथा 1950 में इलाहाबाद विश्वविद्यालय ने भी इसी क्षेत्र में उत्खनन कार्य कराया था । इस क्षेत्र में तीन संस्कृतियों के साक्ष्य प्राप्त हुए हैं :-

1• चित्रित धूसर पात्र-परम्परा,

2• उत्तरी काली चमकीली पात्र-परम्परा,

3• उत्तर - एन0 बी0 पी0 पात्र-परम्परा ।

चित्रित धूसर संस्कृति के साक्ष्य छोटे से क्षेत्र से प्राप्त हुए हैं । प्राप्त पात्र खण्डों की संख्या भी बहुत सीमित है । उत्तरी काली चमकीली पात्र - परम्परा (एन0 बी0 पी0 वेयर ) से सम्बन्धित निर्माण के आठ स्तर (स्ट्रक्चरल पीरियड्स ) इस क्षेत्र से प्रकाश में आये हैं जिनमें से प्रथम पाँच में भवन निर्माण कार्य में मिट्टी तथा कच्ची ईंटों के प्रयोग के साक्ष्य मिले हैं । ऊपरी तीन निर्माण स्तरों से जो साक्ष्य प्राप्त हुए हैं उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि कालान्तर में भवनों का निर्माण पकी हुई ईंटों से होने लगा था । एन0 बी0 पी0 काल के प्राचीन मार्गों (रोड्स), गलियों (लेन्स), नालियों तथा

रिहायसी भवनों के विषय में उल्लेखनीय जानकारी इस क्षेत्र के उत्खनन से प्राप्त हुई है। इस क्षेत्र में एन0 बी0 पी0 पात्र-परम्परा के बाद भी लोग निवास करते रहे जो मुख्यतः लाल रंग की पात्र-परम्परा का उपयोग करते थे। तृतीय काल की संस्कृति के काल-क्रम का निर्धारण कौशाम्बी से प्राप्त मित्र शासकों के सिक्के करते हैं जिन्हें पुरालिपि एवं मुद्रा सम्बन्धी साक्ष्यों के आधार पर द्वितीय शताब्दी ई0 पू0 में रखने का आग्रह किया गया है। शक-पार्थियन तकनीक पर बनी मिट्टी की मूर्तियाँ तथा कुषाणों के सिक्के आदि तृतीय काल के ऊपरी स्तरों से मिले हैं। सम्भवतः इस क्षेत्र में आवास की निरंतरता गुप्तकाल तक चलती रही। इस क्षेत्र के उत्खनन से न केवल मिट्टी के बर्तनों के विषय में अपितु मिट्टी की मूर्तियों, सिक्कों तथा अभिलेखों के सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ मिली हैं।

<u>घोषिताराम विहार-क्षेत्र</u> :- कौशाम्बी के टीले के पूर्वी भाग में घोषिताराम विहार के ध्वंसावशेष विद्यमान हैं। प्राचीन बौद्ध साहित्य में घोषिताराम का उल्लेख अनेक बार किया गया है। प्राचीन बौद्ध साहित्य में उल्लिखित परम्परा के अनुसार एक बार जब गौतमबुद्ध श्रावस्ती में वर्षावास कर रहे थे, तब कौशाम्बी के घोषित नामक सेठ ने अपने दो अन्य सेठ मित्रों कुक्कुट तथा पवरिय के साथ जाकर गौतम बुद्ध के दर्शन किये और उनको कौशाम्बी आने के लिए आमंत्रित किया था। घोषित सेठ के आमंत्रण पर तथागत कौशाम्बी आये थे। घोषित सेठ ने गौतम बुद्ध तथा भिक्षुओं को ठहराने के लिए जिस विहार का निर्माण कराया था, वह निर्माता के नाम पर घोषिताराम के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

घोषिताराम विहार का उत्खनन इलाहाबाद विश्वविद्यालय ने सन् 1951 से 1956 ईस्वी के बीच में कराया था । घोषिताराम के उत्खनन के फलस्वरूप एक विहार प्रकाश में आया है जिसमें निर्माण के सत्रह स्तर §स्ट्रक्चरल पीरियड्स§ प्रकाश में आये हैं । घोषिताराम के क्षेत्र में सम्पन्न हुए उत्खनन से पता चलता है कि कौशाम्बी के इस हिस्से में मानव के आवास की परम्परा उत्तरी काली चमकीली पात्र-परम्परा के प्रचलन के साथ प्रारम्भ हो गई थी क्योंकि इस क्षेत्र के सबसे निचले स्तरों से इस पात्र-परम्परा के पात्र खण्ड उपलब्ध हुए हैं ।

विहार के सन्दर्भ में उत्खनन से महत्त्वपूर्ण सूचनाएं प्राप्त हुई हैं । इसका निर्माण छठवीं शताब्दी ई0पू0 के उत्तरार्द्ध में सम्पन्न हुआ था । निर्माण के विभिन्न स्तरों को देखकर यह पता चलता है कि इसका पुनर्निर्माण विभिन्न समयों में होता रहा । उत्खनन के फलस्वरूप जो एक विहार प्रकाश में आया है वह विहार एवं चैत्य के मिले-जुले रूप में था । उसका प्रमुख प्रवेश-द्वार पश्चिम की ओर था । विहार के प्रवेश-द्वार के बगल में हारीति एवं कुबेर का एक चैत्यगृह प्रकाश में आया है जिसमें हारीति, गजलक्ष्मी और कुबेर की मिट्टी की विशालकाय मूर्तियाँ स्थापित थी । विहार के बीच में एक आँगन था जिसके उत्तरी एवं पूर्वी भागों में भिक्षु-भिक्षुणियों के रहने के लिए छोटे-छोटे कक्ष §कोठरियाँ§ बने हुए थे जिनके आगे बरामदे थे । पश्चिम हिस्सा खुले मैदान के रूप में था जहाँ भिक्षु इकट्ठा होते थे । विहार के प्रांगण में एक बहुत बड़ा वर्गाकार स्तूप था । इसका आकार 24•70 × 24•70 मीटर था । इसके अतिरिक्त एक अण्डाकार स्तूप था तीन छोटे-छोटे स्तूपों के अवशेष भी प्राप्त हुए हैं ।

घोषिताराम विहार के उत्खनन से प्रस्तर की प्रतिमाएं, मिट्टी की बहुसंख्यक मूर्तियाँ, सिक्के, अभिलेख तथा मुहरें मिली हैं । यहाँ की प्रस्तर - प्रतिमाओं के अध्ययन से यह पता चलता है कि द्वितीय शताब्दी ई0 पू0 में जिस समय भरहुत, साँची तथा बोधगया में अमर कलाकृतियों का सृजन हो रहा था, कौशाम्बी का तक्षक {मूर्तिकार} शान्त नहीं बैठा हुआ था । घोषिताराम विहार से प्रस्तर की ऐसी कलाकृतियाँ मिली हैं जिन पर बुद्ध का प्रतीकों के माध्यम से अंकन किया गया है । यहाँ से स्तूप की प्रस्तर वेदिका के अनेक खण्डित अंश मिले हैं जिनमें से कुछ पर द्वितीय प्रथम शताब्दी ई0पू0 की लिपि में लघु आकार के अभिलेख भी अंकित हैं । कौशाम्बी के घोषिताराम विहार से कुषाण काल की लेखयुक्त कतिपय ऐसी प्रतिमाएं मिली हैं जिनका निर्माण तो मथुरा में हुआ था लेकिन बौद्ध धर्म का एक प्रसिद्ध केन्द्र होने के कारण जिनकी स्थापना भिक्षुणी बुधमित्रा ने कौशाम्बी में करायी थी । गुप्तकाल में जिस तरह मथुरा और सारनाथ में मूर्तिकला की अलग-अलग शैलियाँ थी, उसी तरह सम्भवतः कौशाम्बी गुप्त कला का एक केन्द्र थी । प्रथम शताब्दी से लेकर पाँचवी शताब्दी तक की प्रस्तर - मूर्तियाँ यहाँ से मिली हैं ।

घोषिताराम से मृण्मूर्तियाँ भी बड़ी संख्या में मिली हैं । इनमें मौर्य शुंग तथा शक-पार्थियन कालों की मिट्टी की मूर्तियाँ अधिक संख्या में मिली है । शक-पार्थियन मृण्मूर्तियों में तिकोनी शिरोवेश-भूषा से युक्त मातृदेवी तथा मृदंग वादक आदि की मिट्टी की मूर्तियाँ उल्लेखनीय हैं । ये ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में गांगेय क्षेत्र में व्याप्त विदेशी प्रभाव

का दिग्दर्शन कराती हैं । गजलक्ष्मी तथा हारीति का आदमकद मृण्मूर्तियाँ आकार-प्रकार एवं भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से अनुपम हैं ।

कौशाम्बी के घोषिताराम के उत्खनन से प्राप्त रजत एवं ताम्र आहत मुद्राएं (सिक्के) तथा लेख रहित ढले हुए सिक्के पाँचवी-चौथी शताब्दी ईसवी पूर्व में प्रचलन में आए । इनके अलावा कौशाम्बी के स्थानीय सिक्के, कुषाण तथा मघ राजाओं के सिक्के उल्लेखनीय हैं । प्राचीन भारतीय इतिहास के आर्थिक तथा अन्य पक्षों पर इन से प्रकाश पड़ता है । मणि-माणिक्य, मिट्टी तथा हड्डी के बने हुए मनके बहुत बड़ी संख्या में मिले हैं जो तत्कालीन लोगों के सौंदर्य बोध के साथ-साथ निर्माता शिल्पियों के हस्तलाघव के मूक साक्षी हैं ।

घोषिताराम से जो अनेक छोटे-छोटे अभिलेख मिले हैं उनमें से नन्दियक्षा का अभिलेख, आयागपटट, शतदल प्रदीपलेख, बिहार की मुद्रा (सील) विशेष महत्वपूर्ण हैं । आयागपटट अभिलेख के अनुसार भदन्त धर के शिष्य भिक्षु फाल ने घोषिताराम में सभी बुद्धों की पूजा के लिये शिला स्थापित करायी थी (भयंतस धरस अंतेवासिस भिक्खुस फालस, बुधावा से घोषिताराम सब बुधानाँ पुजाये शिला कारापिता) । घोषिताराम बिहार चूंकि सभी साक्ष्यों के अनुसार कौशाम्बी में ही थी इसलिए आयागपट्टपर उल्लिखित अभिलेख से कौशाम्बी के समीकरण के सन्दर्भ में अब कोई विवाद नहीं रहा । मघ राजवंश के महाराज भद्रमघ के कई अभिलेख भी मिले हैं ।

घोषिताराम से प्राप्त पुरातात्त्विक साक्ष्य यह इंगित करते हैं

कि छठवी शताब्दी ईसवी के प्रथम दशक में यहाँ पर हूण आक्रमण हुआ। हूणों की लूट-पाट एवं आगजनी का शिकार घोषिताराम बौद्ध बिहार भी हुआ। घोषिताराम के उत्खनन से मिट्टी की दो मुहरें (सील) मिली है इनमें से एक पर तोरमाण नाम प्रति-मुद्रांकित (काउन्टर स्टक) है तथा दूसरी पर हूणराज उत्कीर्ण हैं। तोरमाण का मध्य प्रदेश के सागर जिले में स्थित एरण नामक स्थान से एक अभिलेख मिला है। जिसकी तिथि सन् 510 ईसवी निर्धारित की गयी है। इस आधार पर घोषिताराम पर आक्रमण का समय सन् 510 से 515 ईसवी के बीच में अनुमानित किया जा सकता है।

कौशाम्बी की रक्षा-प्राचीर - कौशाम्बी में तीसरा उत्खनित क्षेत्र पूर्वी प्रवेश-द्वार के पास स्थित हैं। यहाँ पर उत्खनन कार्य सन् 1957-59 ईसवी के बीच में कौशाम्बी की रक्षा-प्रणाली के इतिहास के अध्ययन तथा मूल रक्षा-प्राचीर (परकोटे) और बाद के परिवर्तन-परिवर्द्धन की प्रकृति एवं प्राचीनता का पता लगाने के उद्देश्य से किया गया था। पूर्वी प्रवेशद्वार के समीपवर्ती क्षेत्र में हुए उत्खनन से रक्षा-प्राचीर के अतिरिक्त सांस्कृतिक जमाव के सन्दर्भ में भी नवीन साक्ष्य उपलब्ध हुए हैं। कौशाम्बी के तीन ओर एक रक्षा-प्राचीर (परकोटा) थी जिसकी ऊँचाई आस-पास के समतल मैदान से 9 से 10 मीटर के बीच में मिलती है। रक्षा-प्राचीर में उत्तर-पश्चिम तथा उत्तर-पूर्व में बने हुए बुर्जों (टावर्स) की ऊँचाई 21.35 मीटर तक है। परकोटे के तीन ओर गहरी खाई थी। परकोटे

में पूर्व, उत्तर तथा पश्चिम दिशाओं में कुल मिलाकर ग्यारह द्वार थे जिनमें से पाँच प्रमुख द्वार थे तथा छः गौण द्वार (सब्सीडियरी गेट्स) थे। उत्तर दिशा में एक तथा पूर्व और पश्चिम दिशाओं में दो-दो मुख्य-द्वार थे।

कौशाम्बी में इस क्षेत्र में जिन चार संस्कृतियों के साक्ष्य मिले हैं उनका काल-क्रम पुरातात्त्विक आधार पर निर्धारित किया गया है। इस काल क्रम के अनुसार कौशाम्बी में रक्षा-प्राचीर या किलेबन्दी का प्रारम्भ लगभग 1023 ई0पू0 में हुआ। प्रथम खाई (मोट) तथा उसकी समकालिक सड़क का निर्माण लगभग 885 ई0पू0 में, द्वितीय रक्षा-प्राचीर लगभग 535 ई0पू0 में और रक्षक कार्यों की व्यवस्था की शुरूआत 325 ई0पू0 में हुई थी : तृतीय रक्षा-प्राचीर 185 ई0 पू0 में चतुर्थ 45 ई0पू0 में निर्मित हुई थी। पाँचवी रक्षा-प्राचीर का निर्माण लगभग 165 ईसवी में और विनाश लगभग 515 ईसवी में हुआ था। तृतीय रक्षा-प्राचीर का निर्माण संभवतः मित्र राजवंश के शासन काल और पाँचवी रक्षा-प्राचीर का निर्माण मघ राजवंश के शासन काल मे हुआ था। इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि कौशाम्बी की विभिन्न संस्कृतियों के कालानुक्रम (क्रोनोलोजी) के संबंध में अनेक पुराविदों ने तरह-तरह की शंकाएँ उठाई हैं। इसी तरह रक्षा-प्राचीर के निर्माण तथा उनके काल-क्रम से भी असहमति व्यक्त की गई है।

कोशाम्बी में पूर्वी प्रवेश-द्वार पर किये गए उत्खनन से चार संस्कृतियों के विषय में साक्ष्य मिले हैं जिनका वर्गीकरण मिट्टी के बर्तनों के आधार पर किया गया है । प्रथम सांस्कृतिक काल की प्रमुख पात्र-परम्पराओं में लाल पात्र-परम्परा है जिस पर कभी-कभी चित्रण-अभिप्राय मिलते हैं । कृष्ण लोहित पात्र-खण्ड भी प्रथम सांस्कृतिक काल से मिले हैं । पात्र चाक पर बने हुए हैं जिन पर प्रलेप ‖स्लिप‖ लगाने के साक्ष्य मिलते हैं । प्रमुख पात्र-प्रकारों में कटोरे, थालियाँ तथा तसले ‖बेसिन‖ आदि मिलते हैं । प्रथम से लेकर चतुर्थ निर्माण काल तक इस प्रथम सांस्कृतिक काल से सम्बद्ध हैं । पुरातात्विक आधार पर काल-क्रम 1165 ई0पू0 से 885 ई0पू0 के बीच में निर्धारित किया गया है कौशाम्बी में जो लोग सबसे पहले रह रहे थे, वे ग्रामीण संस्कृति के लोग थे लेकिन यहाँ के तीसरे निर्माण-काल से नगर-जीवन के साक्ष्य मिलने लगते हैं ।

द्वितीय सांस्कृतिक काल चित्रित धूसर पात्र-परम्परा से संबंधित है। पाँचवे से लेकर आठवें तक चार निर्माण-काल इससे संबंधित हैं । ऊपरी गंगा घाटी में मिलने वाली चित्रित धूसर पात्र-परम्परा तथा कौशाम्बी की इस तरह की पात्र-परम्परा के बीच कुछ विभिन्नताएं दृष्टिगोचर होती हैं । कौशाम्बी से प्राप्त पात्र-खण्ड अपेक्षाकृत मोटे हैं । इनका धूसर वर्ण कुछ हल्के रंग का है तथा चित्रण-अभिप्राय भी कम मिलते हैं । थाली, कटोरे प्रमुख पात्र-प्रकार हैं । चित्रित धूसर पात्र-परम्परा के साथ कृष्ण-लोहित मृद्भाण्ड परम्परा ‖ब्लैक ऐण्ड रेड वेयर‖ बहुतायत से मिलती है । द्वितीय सांस्कृतिक काल का काल - क्रम 885 ई0 पू0 से लेकर 605 ई0 पू0 के बीच निर्धारित किया गया है । कौशाम्बी के उत्खनन कार्य के संचालक स्वर्गीय प्रो0 जी0 आर0 शर्मा के अनुसार लेख-रहित ढले हुए सिक्कों का

सर्व प्रथम प्रचलन नवीं शताब्दी ई० पू० {885-815 ई० पू०} में हो गया था। आहत सिक्कों का चलन उसके बाद में हुआ। इन निष्कर्षों से अधिकांश विद्वान सहमत नहीं हैं। कौशाम्बी लेख-रहित ढले हुए ताँबे के सिक्कों का समय कतिपय विद्वान तीसरी शताब्दी ई० पू० मानते हैं।

तृतीय स [illegible] काल - उत्तरी काली चमकीली पात्र-परम्परा से सम्बन्धित हैं। इससे आठ निर्माण-काल { 7 से 16 तक } सम्बद्ध है। उत्तरी कृष्ण-मार्जित {ओपदार} मृद्भाण्ड परम्परा इस पुरास्थल की वैभवपूर्ण स्थिति की सूचना देती है। इस काल का कालानुक्रम 605 ई० पू० के बीच निर्धारित किया गया है।

चतुर्थ [illegible] काल में सत्रहवें से लेकर पच्चीसवें निर्माण-काल { नौ } तक आते हैं। इस काल में उत्तरी काली चमकीली पात्र-परम्परा का पूर्ण अभाव मिलता है। लाल रंग की पात्र-परम्परा { रेड वेयर } इस काल की प्रमुख मृद्भाण्ड परम्परा है। थाली, कटोरे, घड़े, कलश, मटके, कड़ाही, तसले तथा ढक्कन आदि प्रमुख पात्र - प्रकार हैं। इसका कालानुक्रम 45 ई० पू० से लेकर 585 ईसवी के बीच निर्धारित किया गया है।

राजप्रासाद क्षेत्र कौशाम्बी का चतुर्थ उत्खनन यमुना नदी से लगे हुए टीले के दक्षिणी-पश्चिमी भाग में सन् 1960 ईसवी में सम्पन्न हुआ। इस उत्खनित क्षेत्र को 'राजप्रासाद क्षेत्र' के नाम से अभिहित किया गया है। यद्यपि इस बात का कोई अभिलेखिक साक्ष्य नही मिला है कि यहाँ पर र[illegible] रहता रहा होगा लेकिन इसकी विशालता तथा निर्माण में पत्थरों के प्रयोग को देखकर यह अनुमान लगाया गया है कि इसका निर्माण किसी विशिष्ट व्यक्ति के रहने के लिए किया गया होगा और इस तरह इस के 'राजप्रासाद' होने की संभावना व्यक्त की गई है।

सम्पूर्ण राजप्रासाद क्षेत्र में ऐसा कहा जाता है कि प्रस्तर के छोटे-छोटे टुकड़े पलस्तर के अंश तथा उत्तरी काली चमकीली पात्र-परम्परा और उसके साथ सम्बद्ध अन्य पात्र-परम्पराओं के पात्र-खण्ड बिखरे पड़े थे । यहाँ पर दो छोटी किन्तु ऊँचे टीले स्थित थे जो 75×45 मीटर के क्षेत्र में फैले हुए थे । प्रस्तर-निर्मित इस राजप्रासाद की चहारदीवारी के उत्तरी तथा दक्षिणी पार्श्व समानान्तर हैं किन्तु पूर्वी तथा पश्चिमी दिशाओं की दीवालें वक्ररेखीय ( कर्वीलिनियर ) हैं । इस तरह इसका आकार वृत्तायताकार ( बरेल शेप्ड ) है । उत्तर-पूर्वी, उत्तर-पश्चिमी तथा दक्षिण-पूर्वी पार्श्वों पर गोलाकार तीन बुर्ज (टावर्स) हैं । राजमहल के तीन ओर पत्थर की ऊँची चहारदीवारी थी । लगभग 406 मीटर गहरी और 4•6 मीटर चौड़ी सूखी परिखा या खाई ( ड्राई डिच ) राजमहल के तीनों ओर थी जिसके साक्ष्य उत्तरी परकोटे की उत्तर दिशा में सीमित क्षेत्र से मिले हैं ।

उत्खनन से दीवालों के जो साक्ष्य मिले हैं वे राजमहल की निर्माण सम्बन्धी वास्तुकला के विकास में चार अवस्थाओं का संकेत करते हैं जिनको दस उपकालों में विभाजित किया गया है । प्रारम्भिक काल में राजमहल की दीवाल के निर्माण में अनगढ़ पत्थरों का उपयोग कियागया था । इस काल का समय आठवी से छठवी शताब्दी ई0पू0 के बीच का माना गया है । द्वितीय काल में भली-भाँति गढ़े हुए 66×53×20 सेंटीमीटर आकार के पत्थरों का उपयोग राजमहल की दीवालों के निर्माण में किया गया था । दीवालों की चिनाई में प्रयुक्त बाहरी पत्थर गढ़े हुए थे किन्तु भीतरी भाग में हर तरह के रोड़े (रबिल)

भर दिये गये थे । इसका कालक्रम छठवी शताब्दी ई0पू0 से द्वितीय शताब्दी ई0पू0 क बीच में निर्धारित किया गया है । यह दीवाल द्वितीय शताब्दी ई0पू0 में किसी समय तोड़-फोड़ की गई तथा स्तम्भों को धराशायी कर दिया गया था ।

तृतीय काल में दीवालों का निर्माण ईंटों से किया गया तथा दीवाल के अन्दर के भाग में पत्थर के टुकड़े जोड़े गए थे । इसका समय द्वितीय शताब्दी ई0पू0 से प्रथम शताब्दी ईसवी के बीच का माना गया है । चतुर्थ काल में बड़े पैमाने पर निर्माण कार्य हुआ । इस काल में दीवालों को बनाने के लिए ईंटों तथा पत्थरों का मिला-जुला प्रयोग किया गया था । पाषाण-खण्डों के गढ़ने की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया बल्कि अनगढ़ पत्थरों का ही प्रयोग किया गया था । साबुत ईंटों का अभाव मिलता है । टूटी-फूटी ईंटों ﴾ब्रिक-बेट्स﴿ का प्रयोग दीवाल के निर्माण में मिलता है । निर्माण-सामग्री की कमजोरी को दूर करने के लिए मोटा पलस्तर किया था । इस काल से मेहराब ﴾आर्च﴿ के प्रमाण मिले हैं । आमतौर पर यह समझा जाता था कि निर्माण की इस तकनीक का प्रयोग भारत में अरबों के आगमन से प्रारम्भ हुआ और वह समय आठवी शाताब्दी ईसवी ﴾712 ईसवी﴿ समझा जाता था लेकिन कौशाम्बी के राजमहल क्षेत्र के उत्खनन से उपलब्ध साक्ष्य यह इंगित करते हैं कि प्रथम तथा द्वितीय शताब्दी ईसवी में कुषाण

काल का कालानुक्रम प्रथम शताब्दी से द्वितीय शताब्दी के मध्य निर्धारित किया गया है । अनेक पुराविद् राजमहल के काल-क्रम से सहमत नहीं हैं । उनके अनुसार राजमहल प्राचीन नहीं है । वे इसको मध्यकाल में रखने के पक्ष में हैं ।

कौशाम्बी के उत्खनन से दोआब के निचले क्षेत्र में मानव के आवास के साक्ष्य बारहवी शताब्दी ई0पू0 के सन्दर्भ में मिलते हैं । यहाँ पर आबादी कम से कम छठवी शताब्दी ईसवी तक -- गुप्त काल तक--चलती रही । कौशाम्बी से रक्षा-प्राचीर के साक्ष्य मिले हैं जिस पर बने बुर्ज और कंगूरे तत्कालीन वास्तुकला के वैशिष्ट्य से परिपूर्ण हैं । प्रस्तर तथा मिट्टी की मूर्तियाँ, सिक्के, अभिलेख, मुहरें, लोहे के बाणाग्र ﴾एरो-हेड्स﴿ तथा अन्य लोह उपकरण एवं मनके यहाँ से प्राप्त उल्लेखनीय पुरावशेष हैं । कौशाम्बी प्राचीन काल में राजनीतिक तथा सांस्कृतिक गतिविधियों का प्रमुख केन्द्र थी । उत्खनन से प्राप्त साक्ष्य साहित्यिक परम्परा की आंशिक रूप से पुष्टि करते हैं ।

<u>श्रृंगवेरपुर</u> :- श्रृंगवेरपुर नामक पुरास्थल इलाहाबाद जिले की सोरांव तहसील में इलाहाबाद - उन्नाव मार्ग पर उत्तर - पश्चिम दिशा में लगभग 36 किलोमीटर की दूरी पर गंगा नदी के बायें तट पर स्थित है । यहाँ पर लगभग 10 मीटर ऊँचा एक प्राचीन टीला है जिसके काफी

बड़े भाग को गंगा नदी ने काट डाला है । बाल्मीकि रामायण के अनुसार वनवास के लिये आयोध्या से प्रयाग को ओर जाते समय राम ने सीता और लक्ष्मण के साथ यहाँ पर एक रात विश्राम किया था । दूसरे दिन निषाद राज ने उन्हें गंगा पार कराया और वे भारद्वाज के आश्रम में पहुँचे ।

इस पुरास्थल का उत्खनन शिमला उच्च अध्ययन संस्थान और भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण के संयुक्त तत्त्वावधान में बी0 बी0 लाल और के0 एन0 दीक्षित के निदेशन में दिसम्बर सन् 1977 से 1982 तक हुआ । श्रृंगवेरपुर के उत्खनन के फलस्वरूप जो पुरावशेष तथा पुरानिधियाँ मिली है उनको सात विभिन्न सांस्कृतिक कालों में विभाजित किया गया है । यहाँ के अधिकांश सांस्कृतिक कालों के बीच में सातत्य देखने को मिलता है ।

प्रथम सांस्कृतिक काल (1950-1000 ई0पू0) गैरिक मृद्भाण्ड संस्कृति का है । गैरिक मृद्भाण्ड के अतिरिक्त सरकण्डों की छाप से युक्त मिट्टी के जो हुऐ टुकड़े मिले हैं जिनसे इंगित होता है कि ये लोग बाँस-बल्ली से निर्मित झोपड़ियाँ बनाते थे । मृण्मय अक्रिक खण्ड और कार्नेलियन के फलक का एक खंडित टुकड़ा मिला है । इसके पश्चात् यह पुरास्थल संभवतः कुछ समय तक वीरान रहा । द्वितीय सांस्कृतिक काल (950-700 ई0 पू0) की प्रमुख पात्र-परम्पराओं में कृष्ण-लोहित,

कृष्ण-लोपित और चमकाई गई धूसर पात्र-परम्परा का उल्लेख किया जा सकता है । हड्डी के बने बेधक और बाण-फलक, हड्डी का एक लटकन, जेस्पर तथा मिट्टी के बने मनके अन्य महत्वपूर्ण पुरावशेष हैं ।

शृंगवेरपुर का तृतीय सांस्कृतिक काल §700-250 ई0पू0§ उत्तरी काली ओपदार मृद्‌भाण्ड परम्परा से सम्बन्धित हैं । द्वितीय एवं तृतीय कालों के मध्य अन्तराल के नहीं अपितु सातत्य के साक्ष्य मिले हैं ।

इस काल के पुरावशेष में मृद्‌भाण्डों के अतिरिक्त ताँबे के तीन बड़े कलश, एक कड़छुल, नारी मृण्मूर्तियाँ, माणिक्य, मिट्टी, स्वर्ण के मनके, पशु मूर्तियाँ, ताँबे और लोहे के उपकरण तथा आहत एवं लेख-रहित ढले हुए सिक्के विशेष उल्लेखनीय हैं । भवन निर्माण में इस काल के अंतिम चरण में पकी हुई ईंटों का उपयोग होने लगा था । स्वच्छता तथा सफाई के लिए लोग निजी घरों में मृत्तिका वलय कूपों तथा सोख्ता घड़ों का उपयोग करते थे ।

पुरातात्विक आधार पर 600 ई0पू0 से 300 ई0पू0 के मध्य उत्तरी काली चमकीली पात्र-परम्परा का काल-कृम निर्धारित किया गया है । शृंगवेरपुर के उत्तरी काली चमकीली पात्र-परम्रा के स्तर से एकत्र किये गए एक नमूने की ऊष्मा दीप्ति तिथि 700 ई0 पू0 निर्धारित की गई है । एक नमूना मध्यवर्ती स्तर से एकत्र किये गए एक नमूने की ऊष्मा दीप्ति तिथि 700 ई0पू0 निर्धारित की गई है ।

यह नमूना मध्यवर्ती स्तर से एकत्र किया गया था । इसके आधार पर तृतीय काल के प्रारम्भ की तिथि 700 ई0पू0 निर्धारित की गयी है । यह उल्लेखनीय है कि भारत के विभिन्न पुरास्थलों के सन्दर्भ में उष्मा दीप्ति तिथियों की संख्या बहुत अधिक नहीं है । अन्य देशों के सन्दर्भ में भी अभी तक तिथि निर्धारण की यह प्रणाली प्रयोग के स्तर पर ही है । अतः श्रृंगवेरपुर की उष्मा दीप्ति तिथि को उत्तर काली चमकीली पात्र-परम्परा की प्राचीनता की अंतिम तिथि नहीं माना जा सकता है

चतुर्थ काल §250 ई0पू0 - 200 ई0§ को दो उपकालों में विभाजित किया गया है । लाल रंग के मिट्टी के बर्तन, शुंग कालीन मृण्मूर्तियाँ, अयोध्या के शासकों के सिक्के मिले हैं । श्रृंगवेरपुर के मुख्य टीले के उत्तर-पूर्व में पकी हुई ईंटों से निर्मित आयातकार तालाब के साक्ष्य मिले हैं । यह तालाब उत्तर से दक्षिण की ओर लगभग 200 मीटर लम्बा है । उत्तर के जल के लिए प्रवेश-द्वार और दक्षिण में निकास-द्वार बना हुआ था । यह तालाब अपने किस्म का अद्वितीय उदाहरण है जिसमें नगर निवासियों के लिए पेयजल को साफ करने के लिए बहुत सुन्दर व्यवस्था थी । कुषाण काल में यहाँ के भवन पकी हुई ईंटों के बनाये जाते थे । कुल मिलाकर आर्थिक समृद्धि का संकेत मिलता है ।

पंचम काल §300 - 600 ई0§ में गहरे लाल रंग के मिट्टी के बर्तन प्रचलित थे । इस काल से गुप्त शैली की मृण्मूर्तियाँ मिली हैं । भव

टूटी-फूटी ईंटों के बने हुए मिले हैं।

छठवें काल (1000 - 1300 ई0) का समय प्राप्त पुरावशेषों के आधार पर छठवी शताब्दी से तेरहवी शताब्दी ईस्वी के बीच में निर्धारित किया गया है। इस काल के एक मृद्भाण्ड में कतिपय आभूषण और गहड़वाल राजवंश के शासक गोविन्द चन्द्र (1114-1154 ई0 के द्वारा चलाये गए चाँदी के तेरह सिक्के मिले हैं।

श्रृंगवेरपुर का पुरास्थल तेरहवी शताब्दी ईस्वी के पश्चात् लगभग चार सौ वर्षों तक वीरान रहा है। यहाँ पर अन्तिम बार सत्रहवीं-अठारहवी शताब्दी ईस्वी में पुनः लोग आकर बसे। इस बात की पुष्टि यहाँ से प्राप्त पुरावशेषों से होती है।

श्रृंगवेरपुर के उत्खनन से मध्य गंगा घाटी की प्रारम्भिक संस्कृति के रूप में गैरिक मृद्भाण्डों की प्राप्ति विशेष महत्वपूर्ण है। द्वितीय सांस्कृतिक काल की कृष्ण-लोहित, कृष्ण-लेपित एवं धूसर पात्र-परम्परा पश्चिमी बिहार तथा विन्ध्य क्षेत्र की ताम्र-पाषाणिक संस्कृति से अनुप्राणित मानी जा सकती है। प्रथम शताब्दी ईस्वी के कुषाण कालीन पक्के तालाब को श्रृंगवेरपुर के उत्खनन की विशिष्ट उपलब्धि माना जा सकता है।

झूँसी :- झूँसी जिसकी पहचान प्राचीन प्रतिष्ठान पुर से की गई है - गंगा-यमुना के संगम पर इलाहाबाद नगर के ठीक सामने स्थित लगभग 3 किलोमीटर के क्षेत्र में विस्तृत इस टीले का अधिकांश भाग वर्तमान झूँसी गाँव द्वारा आबाद है। इस समय यह स्थल कई छोटे टीलों में

विभाजित हो गया है लेकिन समुद्र कूप टीला अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षित है, जिसकी अधिकतम ऊँचाई लगभग 16 मीटर है । समय-समय पर इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग द्वारा इस स्थान पर किये गये सर्वेक्षण से मिट्टी के बर्तन, सिक्के, मृण्मूर्तियाँ, पाषाण मूर्तियाँ, मुहरें, हड्डी, लोहे और ताँबे के उपकरण आदि प्राप्त हुए हैं, जो इस स्थल के प्राचीनता को प्राक एन0 बी0 पी0 काल से लेकर मध्य काल तक के विस्तृत सांस्कृतिक काल का संकेत देते हैं । इस स्थल का उत्खनन इ0 वि0 वि0 के प्राचीन इतिहास एवं पुरा-तत्व विभाग द्वारा 1994-95 में छोटे पैमाने पर किया गया । समुद्र की टीले पर ऊपर से लेकर नीचे तक एक सोपान खन्ती में किए गए उत्खनन से 15.5 मीटर के आवासीय जमाव उपलब्ध हुए जिन्हें पाँच सांस्कृतिक कालों में विभाजित किया गया है -

प्रथम सांस्कृतिक काल के जमाव की मोटाई 70 सेंटीमीटर है जिसमें ताम्र पाषाणिक और एन0 बी0 पी0 डब्ल्यू0 संस्कृति के संक्रमण संस्कृति के प्रमाण उपलब्ध हुए हैं । इस धरातल से ब्लैक स्लिप्ड वेयर, ब्लैक वर्निश्ड वेयर, रेड वेयर, ब्लैक एण्ड रेड वेयर के बर्तन उपलब्ध हुए हैं । लाल पात्र परम्परा (रेड वेयर) के बर्तनों पर कभी-कभी काले रंग के चित्र भी बनाए गए हैं । प्रमुख पात्र प्रकारों में पेडेस्टल युक्त कटोरे, गहरे कटोरे, होठ युक्त और पैर युक्त तथा छिद्र युक्त बर्तन प्राप्त हुए हैं । बाँस-बल्ली के निशान से युक्त जली मिट्टी के टुकड़े भी यहाँ से मिले हैं । झूँसी के द्वितीय सांस्कृतिक काल की प्रमुख पात्र परम्परा एन0 बी0 पी0 डब्ल्यू0 है । यहाँ से विभिन्न रंगों की और कुछ चित्र युक्त एन0 बी0 पी0 डब्ल्यू0 भी प्राप्त हुई है । जिसके प्रमुख पात्र प्रकारों में कटोरे

और तश्तरियाँ, नाँद और घड़े प्राप्त हुए हैं। एन0 बी0 पी0 डब्ल्यू0 के साथ में अन्य पात्र परम्परा भी अत्यधिक संख्या में उपलब्ध हुई है। घरों के प्रमाण बाँस-बल्ली के निशान से युक्त जली मिट्टी के टुकड़े के रूप में मिलते हैं। उत्खनन में कुछ वलय कूप (रिंग वेल) भी प्राप्त हुए हैं। अन्य पुरासामग्रियों में आहत और लेखरहित ढली हुई ताम्र मुद्राएं, कुछ प्रतीकों से युक्त मिट्टी की मुहरें और मुहरों की छाप, पशु मृण्मूर्तियाँ, लोहे के उपकरण, पुच्छल युक्त हड्डी के वाणाग्र, अर्द्धरत्नों के मनके और कटने के निशान से युक्त पशुओं की हड्डियाँ सम्मिलित हैं।

तृतीय सांस्कृतिक काल शक-कुषाण काल से सम्बन्धित है, जिसमें एन0बी0 पी0डब्ल्यू0 के बाद के लाल (रेड पालिस्ड) पालिसदार बर्तन, रेड वेयर और ब्लेक ऐण्ड रेड वेयर के बर्तन मिलते हैं। गोलाकार ताँबे के सिक्के और लेखयुक्त मिट्टी की मुहर, मनके, चूड़ियाँ, मृण्मूर्तियाँ, ताँबे और लोहे की सामग्री, हड्डी के वाणाग्र आदि सामग्रियाँ प्राप्त हुई हैं।

चतुर्थ सांस्कृतिक काल गुप्त युग से सम्बन्धित है तथा पाँचवा सांस्कृतिक काल मध्य युगीन है।

झूँसी का उत्खनन एन0 बी0 पी0 डब्ल्यू0 संस्कृति के समय में पकी ईंटों से निर्मित संरचनाओं की दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है[1]।

<u>भीटा :-</u> इलाहाबाद से लगभग 20 किलोमीटर दक्षिण में यमुना नदी के दाहिने तट पर भीटा नामक स्थल पर कई प्राचीन टीले विद्यमान हैं। इस स्थल का 1909-10 और 1911-12 में सर जान मार्शल ने उत्खनन किया था और इसकी रिपोर्ट

---

1. मिश्रा, वी0 डी0 और पाल, जे0 एन0 आदि (1977), <u>एक्सक्वेशन एट झूँसी</u> <u>प्राग्धारा</u> नं0 - 6 में प्रकाशित।

भी प्रकाशित की थी ।[1] लेकिन उस समय तक भारतीय पुरातत्व में उत्खनन की विधि विकसित नहीं थी और स्तरीकरण को उतना महत्व नहीं दिया जाता था । इसलिए जान मार्शल इस स्थल को पहचान प्राचीन शैन शिविर और एक व्यापारिक नगर के रूप में की थी । इस स्थल के उत्खनन से प्राक मौर्य कालसे लेकर गुप्त युग तक के पाँच सांस्कृतिक कालों तक के अवशेष प्राप्त हुए थे । उपलब्ध पुरातात्विक सामग्रियों में एन0बी0पी0 वेयर के बर्तन आहत और ढले हुए सिक्के, आहत ढले हुए जनपदों और कुषाण मुद्राएँ, मृण मूर्तियाँ तथा कुषाण एवं गुप्त काल की धार्मिक एवं व्यापारिक मुहरें उपलब्ध हुई थी ।[2]

वर्तमान में भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण लखनऊ द्वारा इस स्थल का उत्खनन प्रारम्भ हुआ है, जिससे इस स्थल के स्तरीकरण और सांस्कृतिक विकास पर प्रकाश पड़ने की सम्भावना है ।

---

1- सर मार्शल जान (1911), आर्कियोलाजिकल एक्सप्लोरेशन इन इण्डिया, जनरल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी, पेज-127 के आगे: एन एनुवल रिपोर्ट आफ आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, 1909-10, पेज-40 और आगे : एनुवल रिपोर्ट ए0एस0आई0, 1911-12, पेज-29 से आगे ।

2- शर्मा, वाई0डी0 (1953), एक्सप्लोरेशन आफ आर्कियोलाजिकल साइट एंशियन्ट इण्डिया, नं0-9, पेज - 186.

**श्रावस्ती :-** लखनऊ से 160 किलोमीटर उत्तर-पूर्व दिशा में एक छोटा सा गाँव है, जो आधुनिक बौद्ध तीर्थ स्थलों में बोधगया और सारनाथ के उपरान्त तीसरा महत्वपूर्ण केन्द्र है । इस स्थल को सहेट-महेट के नाम से जाना जाता है । गोंडा और बहराइच जनपदों की सीमा पर स्थित इस समय इस नाम से एक नये जनपद का निर्माण भी हुआ है । इस स्थल का उत्खनन भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण द्वारा 1959 में डा० के०के० सिन्हा ने किया था जिसकी रिपोर्ट बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय ने 1967 में प्रकाशित की गई ।[1] उत्खनन के परिणामस्वरूप तीन सांस्कृतिक काल के प्रमाण उपलब्ध हुए-प्रथम सांस्कृतिक काल एन०बी०पी०डब्ल्यू संस्कृति से संबंधित है । इस धरातल से कुछ पी०जी०डब्ल्यू० [चित्रित धूसर पात्र-परम्परा] के पात्र खण्ड प्राप्त हुए हैं । लेकिन ये हस्तिनापुर के पी० जी०डब्ल्यू० से भिन्न है । इस सांस्कृतिक काल को 600 से 300 ई०पू० के मध्य रखा गया है । पात्र-परम्पराओं के अतिरिक्त शीशे और अर्द्धरत्नों के मनके, पशुओं की मृण्मूर्तियाँ, टेरा कोटा डिस्क आदि उपलब्ध हुई है । इस धरातल से न तो कोई सिक्के मिले हैं और न ही ईंटों के भवन और संरचनाएँ ही । लेकिन उत्खनन कर्ता के अनुसार यह अनुपलब्धता सीमित उत्खनन क्षेत्र का कारण हो सकता है ।

द्वितीय सांस्कृतिक काल के प्रारम्भ और प्रथम सांस्कृतिक काल के अन्त में समय का कोई स्पष्ट अन्तराल नहीं दिखाई पड़ता । लेकिन

---

1- सिन्हा, के०के० [1959], एक्सक्वेशन एट श्रावस्ती, बी०एच०यू०, वाराणसी ।

दोनों संस्कृतियों के भौतिक अवशेषों में बड़ा परिवर्तन दिखाई पड़ता है। सम्भवत: द्वितीय सांस्कृतिक काल के लोगों की आवश्यकताएं बढ़ गई और उनका वाह्य केन्द्रों से सम्पर्क बढ़ गया। इस काल की पात्र-परम्परा मुख्यत: दैनिक उपयोग की है। इस चरण से हुई स्थानीय स्तर पर बने अर्द्धरत्नों के मनके, शीशे के मनके उपलब्ध हुए हैं। बड़ी संख्या में लोहे के उपकरण और हड्डी के वाणाग्र उपलब्ध हुए हैं। इसी चरण में नगर को मिट्टी की रक्षा प्राचीर से सुरक्षित किया गया था। जिसके उपर पकी मिट्टी की ईंटें लगाई गई थी। इस प्राचीर का निर्माण कौटिल्य के अर्थशास्त्र में वर्णित रक्षा प्राचीर के अनुरूप दिखाई पड़ता है। घरों का निर्माण पकी ईंटों से किया गया है। मुहरें, सिक्के {लेख रहित ढली हुई मुद्राएं आहत मुद्राएं} और अयोध्या की स्थानीय मुद्राएं उपलब्ध हुई हैं। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दी में इस चरण का अन्त हो जाता है। और इसके बाद सिर्फ धार्मिक केन्द्र के रूप में ही इसकी पहचान/मान्यता थी।

तृतीय सांस्कृतिक काल के प्रमाण सीमित क्षेत्र में उपलब्ध हुए हैं। ऐसा लगता है कि नगर के रूप में यह स्थल वीरान हो गया था लेकिन प्राचीन अवशेषों के उपर कुछ क्षेत्रों में लोग रहते थे। तृतीय सांस्कृतिक काल को चतुर्थ पांचवी शताब्दी ईस्वी में रखा गया है। फाह्यान भी जब पांचवी शताब्दी ईसवी के प्रारम्भ में यहाँ आया तब यह स्थल वीरान एवं आवास रहित था।

नन्दिग्राम :- अयोध्या से 16 किलोमीटर दक्षिण में नन्दिग्राम और उसके समीप के क्षेत्रों में इस अभियान दल द्वारा कुछ उत्खनन किये गये थे। तमसा नदी के तट पर स्थित नन्दिग्राम वाल्मीकि रामायण के अनुसार वह स्थान था जहाँ से भरत ने राम के वनवास के समय शासन किया था। यहाँ के उत्खनन से अयोध्या की ही तरह की प्राचीनता का प्रमाण प्रस्तुत करने वाली पुरासामग्रियाँ उपलब्ध हुई हैं। यद्यपि आजकल नन्दिग्राम तमसा के उत्तरी तट पर स्थित है लेकिन इसके दक्षिणी तट पर स्थित राहेट टीले के उत्खनन से महत्वपूर्ण पुरावशेष उपलब्ध हुए हैं।

अयोध्या :- अयोध्या में प्राचीन ध्वंसावशेष लगभग 4-5 मिलीमीटर की परिधि में फैले हुए हैं जो समीपवर्ती धरातल से लगभग 10 मीटर ऊँचे हैं। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के श्री विजय शंकर ने 1961-62 में अयोध्या के कई टीलों का सर्वेक्षण किया था और यहाँ की पुरातात्त्विक सम्पन्नता का संकेत दिया था। उन्हें सरयू नदी के तट पर 7.60 मीटर मोटे नदी के अनुभाग से एन0 बी0 पी0 पात्र-परम्परा के बर्तन उपलब्ध हुये हैं। रिंगवेल और सोकेज जार भी यहाँ पर विद्यमान थे[1]। इस स्थल की प्राचीनता तथा सांस्कृतिक अनुक्रम के निर्धारण के लिए 1969-70 में बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के ए0 के0 नारायण ने टी0 एन0 राय और पुरुषोत्तम सिंह की सहायता से उत्खनन किया था। सरयू नदी द्वारा काटे गये इसके प्राचीन अनुभागों में दीर्घकालीन आवास के प्रमाण मिलते हैं जो अयोध्या के प्राचीन स्थल के उत्तर भाग में आवासीय प्रमाण प्रस्तुत करते हैं।

---

1. इण्डियन आर्कियोलोजी : ए रिव्यू (1961-62) पृ0 - 53।

बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के पुरातात्त्विक दल ने यहाँ 3 स्थलों पर उत्खनन कार्य किया था - जैन घाट के समीप, लक्ष्मण टेकरी और नल टीला[1] । प्रथम दो स्थलों के उत्खनन में तीन सांस्कृतिक कालों का अनुक्रम प्राप्त हुआ था । यहाँ प्रथम और द्वितीय काल में सतता थी पर तृतीय काल के पहले समय का एक अन्तराल था । तीसरे स्थल, जो अपेक्षाकृत निचले धरातल पर है, के उत्खनन में केवल प्रथम सांस्कृतिक काल के प्रमाण उपलब्ध हुये थे । प्रथम सांस्कृतिक काल में एन० बी० पी० वेयर (उत्तरी कृष्ण मार्जित पात्र-परम्परा) मोटा ग्रे वेयर और इसका समकालीन रेड-वेयर के पात्र-खण्ड प्राप्त हुये हैं । इस काल की अन्य पुरा-सामग्रियों में पकी हुई मिट्टी का चक्र, गोलियाँ, पहिये, हड्डी के बने हुए वाणाग्र तथा ताँबे, क्रिस्टल, शीशा और मिट्टी के बने हुए मनके उल्लेखनीय हैं । इस सांस्कृतिक काल के परवर्ती धरातल से भूरे रंग की 6 मानव मृण्मूर्तियाँ, कई पशु मृण्मूर्तियाँ और दो अयोध्या सिक्के उपलब्ध हुए हैं । इस उत्खनन में कुछ लोह उपकरण भी प्राप्त हुये हैं । उल्लेखनीय है कि अयोध्या नगर की कुछ ताम्र मुद्रायें जिन पर प्रथम शताब्दी ई० पू० की ब्राह्मी लिपि में 'अजुधे' लिखा है 1970-71 में भी मिली थी[2] । इस पुरातात्त्विक दल ने कुबेर टीले का भी गहन सर्वेक्षण किया था जिसकी पहचान - कनिंघम ने बौद्ध स्तूप से की थी । यहाँ 39 × 23 × 6 सेंटीमीटर के आकार के ईंटों से निर्मित प्राचीन स्मारक के कई स्तर प्राप्त हुये थे ।

---

1. इण्डियन आर्कियोलोजी : ए रिव्यू (1969-70), पृ० 40 - 41 ।
2. इण्डियन आर्कियोलोजी : ए रिव्यू (1970-71), पृ० 63 ।

'आर्कियोलोजी आफ दी रामायण साइट्स' प्रोजेक्ट के अन्तर्गत सेन्टर आफ एडवान्स्ड स्टडी शिमला के बी0 बी0 लाल ने भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण के के0 वी0 सौन्दरराजन तथा के0 एन0 दीक्षित के साथ सम्मिलित रूप से रामकथा से संबंधित अयोध्या के 14 स्थलों का 1975-76, 1976-77 तथा 1979-80 ई0 में उत्खनन किया था[1] ।

अयोध्या नगर के प्राचीन क्षेत्रों के दो प्रमुख स्थलों का उत्खनन कार्य 1976-77 में किया गया - पहला रामजन्मभूमि टीला का और दूसरा हनुमानगढ़ी के पश्चिम में स्थित खुले हुए क्षेत्र में[2] । इसके अतिरिक्त सीता की रसोई-स्थल पर भी कुछ उत्खनन हुआ । उत्खनन में स्थल की प्राचीनता निर्धारण में कतिपय महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रकाश में आये । यहाँ पर सर्वप्रथम मानव आवासीय जमाव एन0 वी0पी0 पात्र-परम्परा (एन0वी0पी0डब्ल्यू0) संस्कृति का था जिसमें कई रंगों के साथ धुंधले काले रंग से चित्रित रेखीय चित्रों से युक्त धूसर रंग के पात्र-खण्ड भी उपलब्ध हुए थे[3] । जो श्रावस्ती, पिपरहवा, कौशाम्बी आदि नमूनों के

---

1. इण्डियन आर्कियोलोजी : ए रिव्यू (1976-77), पृ0 52-53 ।
2. इण्डियन आर्कियोलोजी : ए रिव्यू (1979-80), पृ0 76-77 ।
3. अयोध्या में बी0बी0 लाल द्वारा किये गये उत्खनन में निकले धरातल से पी0 जी0 डब्ल्यू0 पात्र परम्परा के जो पात्र-खण्ड उपलब्ध हुए हैं उनका फेब्रिक (अनुभाग) मोटा है और उन पर धुंधले रेखीय चित्र बने हैं । ऐसे पात्र-खण्ड कौशाम्बी के उत्खनन से भी उपलब्ध हुए हैं । क्योंकि ये पात्र-खण्ड विशिष्ट (टिपिकल) चित्रित धूसर पात्र खण्डों से भिन्न हैं । इसलिए इन्हें पुरातत्वविद् चित्रित धूसर पात्र-परम्परा की संस्कृति के स्थलों के अन्तर्गत नहीं रखते । अधिक जानकारी के लिए अग्रवाल डी0पी0 (1984) आर्कियोलोजी आफ इण्डिया, पेज 253 का अवलोकन किया जा सकता है ।

चित्रित धूसर पात्रपरम्परा (पी० जी० डब्ल्यू०) के समान हैं । ये पात्र-खण्ड हस्तिनापुर, मथुरा और अहिच्छत्र के चित्रित धूसर पात्र-परम्परा की संस्कृति के परवर्ती चरण का प्रतिनिधित्व करते हैं । मथुरा, श्रावस्ती, कौशाम्बी आदि स्थलों से प्राप्त तिथियों के आलोक में उत्खनन कर्ताओं ने जन्मभूमि के इस आवासीय जमाव की तिथि सातवीं श० ई० पू० निर्धारित की है । यह टीला तृतीय शताब्दी ई० तक आबाद रहा जैसा कि कई निर्माणात्मक चरणों से प्रतीत होता है । प्रारम्भिक चरणों में लकड़ी, घास-फूस और मिट्टी के घरों का निर्माण किया जाता था, लेकिन बाद में पकी ईंटों का प्रयोग किया जाने लगा । जन्मभूमि क्षेत्र के उत्खनन में ईंटों से निर्मित एक विशाल दीवाल के प्रमाण उपलब्ध हुए हैं जिसकी पहचान रक्षा-प्राचीर से की जा सकती है । इस विशाल दीवाल के ठीक नीचे कच्ची मिट्टी की ईंटों से निर्मित एक ढाँचा उपलब्ध हुआ था । इस चरण के ऊपरी धरातल में जिसे संभवतः तृतीय श० ई० पू० से प्रथम श० ई० पू० के मध्य के रक्षा-प्राचीर के परवर्ती चरण से संबंधित किया जा सकता है - पकी मिट्टी के रिंगवेल प्राप्त हुए हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि रक्षा-प्राचीर एक गहरी खाई से युक्त थी, जो आंशिक रूप से प्राकृतिक मिट्टी में खोदी गयी थी । इसी तरह हनुमानगढ़ी के पास के उत्खनन में भी एन०वी०पी०डब्ल्यू० और परवर्ती कालों के ढाँचे, कई प्रकार के रिंगवेल जिसमें परवर्ती एन० वी० पी० काल में मिलने वाले वेज आकार के ईंटों से निर्मित कुएं भी सम्मिलित हैं, प्राप्त हुए हैं
अयोध्या के प्राचीन टीलों के अधिकांश भाग संभवतः नदी द्वारा बहा दिये गये हैं । एन० वी० पी० जमाव के ऊपर यहाँ गहरे लाल रंग का जला हुआ स्तर है[1] । इस

---

1. लाल बी० बी० से शर्मा, जी० आर० को प्राप्त व्यक्तिगत जानकारी ।

प्रमाण के आधार पर शुंग की द्वितीय राजधानी अयोध्या में पतंजलि द्वारा उल्लिखित इण्डो-यूनानी आक्रमण का संकेत मिलता है । इसी अग्निकाण्ड के कारण अयोध्या में एक युग का अन्त हुआ और एन0 बी0 पी0 संस्कृति नष्ट हुई[1] ।

इस उत्खनन में बहुत सी महत्वपूर्ण पुरासामग्रियाँ उपलब्ध हुई थीं - लगभग आधा दर्जन मुहरें, 70 सिक्के और एक सौ से अधिक मृण्मूर्तियाँ । इसमें राजा वासुदेव की मिट्टी की मुहर विशेष उल्लेखनीय है । इस राजा के द्वितीय शताब्दी ई0 पू0 के अयोध्या के सिक्के भी उपलब्ध हुए है । इसी काल से संबंधित मूलदेव एक सिक्का और एक भूरे रंग की कायोत्सर्ग मुद्रा में मानव मृण्मूर्ति (जो जैन कैवलिन की प्रतीत होती है) उपलब्ध हुई है। चतुर्थ श0 ई0 पू0 के धरातल से उपलब्ध यह मृण्मूर्ति संभवतः सम्पूर्ण भारतवर्ष में अपने प्रकार की सबसे प्राचीन मूर्ति है । पकी मिट्टी की बनी हुई बड़े आकार की धार्मिक मृण्मूर्तियाँ प्रथम श0 ई0 के धरातल से हनुमानगढ़ी से अधिक संख्या में उपलब्ध हुई है जो अहिच्छत्र के उत्खनन से प्राप्त बी0 एस0 अग्रवाल द्वारा वर्णित तथाकथित विदेशी प्रकार की मृण्मूर्तियों की तरह है ।

प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल के महत्वपूर्ण खोजों में प्रथम द्वितीय श0 ई0 के धरातल से उपलब्ध राउलेटेड वेयर के पात्र-खण्डों का उल्लेख किया जा सकता है जो ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में अयोध्या में बड़े पैमाने पर व्यापार एवं

---

1. शर्मा, जी0 आर0 (1980), रेह इंस्क्रिपसन आफ मेनाण्डर एण्ड इण्डोग्रीक इन्वेजन आफ दी गंगा वैली, इलाहाबाद ।

वाणिज्य का संकेत करते हैं । यह व्यापार जलमार्ग से होता था । सरयू नदी का गंगा से छपरा में संगम होता है । गंगा नदी के मार्ग से अयोध्या का सम्बन्ध पूर्वी भारत के ताम्रलिप्ति जैसे नगरों से था[1] । हाल के समय तक सरयू और गंगा नदियों द्वारा बड़ी आकार की नावों से व्यापार होता था । राउलेटेड वेयर की खोज से देश के अन्तर्वर्ती भागों से व्यापार एवं वाणिज्य का प्रमाण उपलब्ध हुआ है ।

इस उत्खनन में यहाँ गुप्तकाल के आवासीय जमाव प्राप्त हुए हैं । प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल के जमावों के बाद यहाँ के आवासीय जमाव में एक अन्तराल दिखाई पड़ता है । ग्यारहवीं शताब्दी ई0 के आस-पास यह स्थल फिर से आबाद हुआ । ईंटों और चूने से निर्मित मध्यकाल की एक फर्श इस धरातल से प्राप्त हुई है[2] ।

1979-80 ई0 में अयोध्या में 'आर्कियोलोजी आफ द रामायण साइट्स' प्रोजेक्ट के अन्तर्गत सेन्टर आफ एडवान्स स्टडी शिमला के प्रो0 बी0बी0 लाल और भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण के के0 एन0 दीक्षित के संयुक्त तत्वाधान में उत्खनन कार्य पुनः प्रारम्भ किया गया । इस वर्ष के उत्खनन का मुख्य उद्देश्य इस तथ्य का पता लगाना था कि क्या एन0 बी0 पी0 डब्ल्यू0 काल के पहले का कोई आवासीय जमाव अयोध्या में है या नहीं ?

---

1. देश पाण्डे, एम0 एन0 (1969), रोमन पाटरी, पाटरीज इन एंशियेन्ट इंडिया
2. इण्डियन आर्कियोलोजी : ए रिव्यू, (1976-77), पृ0 52 - 53 ।

इस उत्खनन से यह पता चला कि यहाँ का प्राचीनतम काल सातवीं श0 ई0 पू0 के प्रारम्भ में एन0वी0पी0डब्ल्यू0 के प्रथम चरण से संबंधित किया जा सकता है और यह क्षेत्र पी0जी0डब्ल्यू0 के विस्तार क्षेत्र के बाहर था। प्रारम्भिक चरण में एन0वी0पी0डब्ल्यू0 पात्र परम्परा के बर्तन पतले अनुभाग वाले अच्छी तरह पके हुए, चमकदार पालिश से युक्त और काले ब्लेक, स्टील ग्रे, पिंक्श सिल्वरी, सुनहले आदि विभिन्न रंगों के हैं। कुछ बर्तनों के प्रकार ऐसे हैं जो इसी चरण में मिलते हैं। एन0वी0पी0डब्ल्यू0 के साथ मिलने वाली लाल पात्र परम्परा के प्रकारों में प्रथम चरण से मध्यवर्ती और परवर्ती चरणों में परिवर्तन दिखायी पड़ता है। मृण्मूर्तियों में विकास के चिन्ह परिलक्षित होते हैं। ये अधिक संख्या में उपलब्ध हुए हैं। उल्लेखनीय अन्य पुरासामग्रियों में जेस्पर, अगेट, कलसिडनी के बने हुए और लगभग सभी धरातलों से मिलने वाले विभिन्न प्रकार के वाट अथवा वेलनाकार टुकड़े और राक क्रिस्टल और दूसरे अर्धरत्नों वाले पत्थर पर पक्षियों और पशुओं के आकार में बने हुए लटकनों का उल्लेख किया जा सकता है। एन0वी0पी0डब्ल्यू0 काल में ही पकी ईंटों के मकानों से युक्त नगर नियोजन, पकी मिट्टी के रिंगवेल आदि उपलब्ध हुए हैं लेकिन ये इस संस्कृति के प्रथम चरण से संबंधित नहीं है।

लगभग द्वितीय श0ई0पू0 में एन0वी0पी0डब्ल्यू0 काल के अन्त के बाद अयोध्या लगातार शुंग, कुषाण और गुप्त युग से मध्यकाल तक आबाद रहा। शुंग काल की पकी ईंटों की बनी हुई एक दीवाल प्रकाश में आयी है। इसी प्रकार गुप्त कालीन एक मकान के प्रमाण भी उपलब्ध हुए हैं। इस स्थल से उपलब्ध गुप्तकालीन मिट्टी के बर्तन श्रृंगवेरपुर और भारद्वाज आश्रम से

उपलब्ध गुप्तकालीन बर्तनों के सदृश है[1] ।

गनवरिया/पिपरहवा :- बस्ती जनपद में स्थित गनवरिया और पिपरहवा स्थलों का उत्खनन 1970-71 से 76-77 तक भारती पुरातत्व सर्वेक्षण के के0 एम0 श्रीवास्तव ने किया था[2] । पिपरहवा जहाँ एक बड़ा बौद्ध तीर्थ स्थल है, के उत्खनन से कपिलवस्तु से अंकित मुहरें उपलब्ध हुई हैं, जिसके आधार पर इसकी पहचान शाक्य राजधानी कपिलवस्तु के रूप में की गयी है । लगभग सात मीटर मोटे यहाँ के आवासी जमाव को चार सांस्कृतिक कालों में विभाजित किया गया है - प्रथम सांस्कृतिक काल जिसे आठवीं शताब्दी ई0 पू0 से छठी शताब्दी ई0पू0 के बीच रखा गया है, से कुछ धूसर पात्र-परम्परा ॥ ग्रेवेयर ॥, कृष्ण लेपित पात्र - परम्परा ॥ब्लेक स्लिप वेयर ॥ और लाल पात्र-परम्परा ॥रेड वेयर॥ के पात्र प्राप्त हुए हैं । इस काल के आवासों का निर्माण मिट्टी से किया गया है । उत्खनन में मिट्टी, शीशे और अर्द्धरत्नों के मनके तथा कुछ शीशे की चूड़ियाँ भी प्राप्त हुई थी । कोई अन्य पाषाण उपकरण नहीं मिला था, लेकिन लोहे और ताँबे की सामग्रियाँ प्राप्त हुई थी । पहली बार यहाँ से लोहे का फाल प्राप्त हुआ । द्वितीय सांस्कृतिक काल जिसे छठी शताब्दी ई0पू0 से द्वितीय शताब्दी ई0पू0 के मध्य रखा गया है, से एन0वी0पी0डब्ल्यू0 संस्कृति के प्रमाण मिले हैं । बड़े पैमाने पर संरचनात्मक क्रिया-कलापों के प्रमाण उपलब्ध होते हैं । इस काल

---

1. इण्डियन आर्कियोलोजी : ए रिव्यू ॥1979-80॥, पृ0 76-77 ।
2. इण्डियन आर्कियोलोजी : ए रिव्यू ॥1970-71॥ से 1976-77॥ तक में प्रकाशित रिपोर्ट ।

के परवर्ती चरणों से कई कमरों और बरामदों से युक्त बड़े और छोटे घर प्राप्त हुए हैं। पशु और मानव मृण्मूर्तियों के अतिरिक्त मिट्टी के मनके, चूड़ियाँ, थपुआ, गाड़ी का पहिया और खिलौना गाड़ी आदि प्राप्त हुए हैं। अर्धरत्नों और शीशे के मनके इस चरण से भी प्राप्त होते हैं। इसके परवर्ती चरण से सिक्के भी उपलब्ध हुए हैं। तृतीय सांस्कृतिक काल से शुंग कालीन और चतुर्थ सांस्कृतिक काल से कुषाण युग के अवशेष प्राप्त हुए हैं[1]।

लखनेश्वरडीह :- उत्तर प्रदेश के बलिया जनपद में स्थित इस स्थल का सीमित क्षेत्र में एम० एम० नागर द्वारा 1956-57 में उत्खनन किया गया था। जिससे पत्थर और मिट्टी की सामग्रियाँ तथा एन०बी०पी०डब्ल्यू० के पात्र खण्ड प्रतिवेदित किये गये हैं। क्योंकि प्रकाशित विवरणों में अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं है, इसलिए इस स्थल को लौह काल के किस चरण से सम्बद्ध किया जाय यह निश्चित नहीं है[2]।

सूलीपार :- बलिया जनपद में स्थित इस स्थल का भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण के बी० आर० मणि ने अभी हाल में पुरातात्त्विक अन्वेषण प्रारम्भ किया। यहाँ से एन०बी०पी०डब्ल्यू० और पूर्व एन०बी०पी० के पात्र खण्ड प्राप्त हुए हैं। विस्तृत रिपोर्ट के प्रकाशन के अभाव में सम्पूर्ण जानकारी दे पाना संभव नहीं है।

---

1. श्रीवास्तव, के० एम० (1986), डिस्कवरी आफ कपिलवस्तु, नई दिल्ली।

2. इण्डियन आर्कियोलोजी : ए रिव्यू (1956-57), पृ० 29

<u>बक्सर :-</u> चरितर वन के नाम से स्थानीय रूप में विख्यात बक्सर बिहार के शाहाबाद जनपद में स्थित है । इस स्थल का उत्खनन 1963-64 और 65-66[1] में लाला आदित्य नारायण ने बी0पी0 सिन्हा के निर्देशन में किया था । यहाँ के प्रथम सांस्कृतिक काल से एन0बी0पी0डब्ल्यू0, ब्लैक ऐण्ड रेड्वेयर, रेड्वेयर, लोह उपकरण, हड्डी के वाणाग्र, शुरमा लगाने की सलाई, आहत सिक्के, नारी और पशु मृण्मूर्तियाँ तथा अर्द्धरत्नों पर बने मनके प्राप्त हुए हैं । बहुत कुछ मृण्मूर्तियाँ प्राथमिक शैली में प्राप्त होती हैं । द्वितीय सांस्कृतिक काल में ईसा की प्रारम्भिक शताब्दी से संबंधित पुरासामग्रियाँ उपलब्ध हैं, जिनमें कुषाण शैली से निर्मित मृण्मूर्तियाँ,मिट्टी के बर्तन सम्मिलित हैं । कई मुहरें, मनके, लोहे के उपकरण और एक बड़ी दीवाल भी प्राप्त हुई थी । द्वितीय सांस्कृति काल के उपरान्त स्थल काफी समय तक वीरान रहा । मध्य युग में यहाँ पुनः अधिवास के प्रमाण तृतीय सांस्कृतिक काल से मिलते हैं । जिनमें जहाँगीर और शाहजहाँ के कुछ चाँदी के सिक्के और कांचलित पात्र-परम्परा के बर्तन सम्मिलित हैं ।

उपलब्ध विवरणों से स्पष्ट है कि यहस्थल परवर्ती एन0बी0पी0डब्ल्यू0 चरण से सम्बन्धित है । लेकिन 1963-64 के उत्खननों से कुछ प्राचीन धरातल का भी संकेत मिलता है ।

<u>पाटलिपुत्र :-</u> प्राचीन पाटलिपुत्र के वास्तविक पहचान के सम्बन्ध में पटना के कई स्थलों का उत्खनन किया गया । अलेक्जेंडर कनिंघम ने 1880 के आसपास

---

1. <u>इण्डियन आर्कियोलोजी : ए रिव्यू</u> (1963-64), पृ0 8 और (1965-66) पृ0 11.

यहाँ के कुछ टीलों पर उत्खनन किया, लेकिन इससे कुछ खास उपलब्ध नही हुआ। 1892 में एल0 ए0 बेडल ने बुलन्दी बाग, छोटी पहाड़ी, तापी मण्डी और कुम्रहार के उत्तर पूर्व में महराजकुण्ड तथा रामपुर, बहादुरपुर और पृथ्वीपुर में उत्खनन किये गये। कुछ स्थलों पर उन्हें लकड़ी की शहतीरों और लकड़ी की अन्य सामग्रियाँ उपलब्ध हुई थी। तिथिक्रम की दृष्टि से महत्वपूर्ण एक अशोक स्तम्भ का टुकड़ा भी उपलब्ध हुआ था। 1897-98 में पी0 सी0 मुखर्जी ने लहानीपुर में किये गये छोटे उत्खनन से कई आहत सिक्के और चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के सिक्के प्राप्त किये। 1912-13 में बी0बी0 स्पूना ने बुलन्दीबाग और कुम्रहार का उत्खनन किया। बुलन्दीबाग के उत्खनन में लकड़ी की शहतीरें, लेखरहित और ढली हुई मुद्राएं, मानव मृण्मूर्तियाँ और एक रथ का पहिया प्राप्त हुआ। कुम्रहार में मौर्ययुगीन स्तम्भ युक्त हाल कुषाण और गुप्त कालीन आहत सिक्के प्राप्त हुए हैं। 1926-27 में बुलन्दीबाग का पुन: उत्खनन किया गया था, जिसमें लकड़ी और ईंटों के अवशेष प्राप्त हुए लेकिन इन उत्खननों से मौर्य युग से पहले के कोई भी अवशेष उपलब्ध नहीं हुए। अत: 1955-56 में[1] के0पी0 जायसवाल शोधसंस्थान की ओर से अनन्त सदाशिव अल्तेकर के नेतृत्व में बी0 के0 मिश्रा ने उत्खनन कार्य प्रारम्भ किया। उत्खनन से प्राप्त सांस्कृतिक जमाव को पाँच सांस्कृतिक कालों में विभाजित किया गया है। प्रथम चार सांस्कृतिक कालों में क्रमबद्धता है, जो 600 ई0पू0 से लेकर 600 ई0पू0 के मध्य रखे गये हैं तथा पाँचवा सांस्कृतिक काल 1600 ई0 के प्रारम्भ का है।

---

1. सिन्हा, बी0पी0 (1970), पाटलिपुत्र एक्सकवेशन 1955-56, पटना।

प्रथम सांस्कृतिक काल से 600 ई0 पू0 से लेकर 150 ई0 पू0 के बीच के सांस्कृतिक अवशेष प्राप्त हुए हैं, जिसे एन0बी0पी0डब्ल्यू0 संस्कृति का नाम दिया गया है। द्वितीय सांस्कृतिक काल 150 ई0पू0 से 100 ई0 के बीच का है। जिसमें अवनत के प्रमाण दिखाई पड़ते हैं। तृतीय सांस्कृतिक काल 100 ई0 से 300 ई0 के बीच का है, में एन0बी0पी0डब्ल्यू0 का प्रयोग पूर्णत: समाप्त हो जाता है। प्रकाशित विवरणों के आधार पर इस स्थल के एन0बी0पी0डब्ल्यू0 संस्कृतिक के दो चरणों की पहचान की जा सकती है। यहाँ के प्रथम सांस्कृतिक काल प्रारम्भिक प्राक संरचनात्मक चरण के एन0बी0पी0डब्ल्यू0 संस्कृति से संबंधित हैं और द्वितीय सांस्कृतिक काल परवर्ती एन0बी0पी0डब्ल्यू0 संस्कृति का है। पाटलिपुत्र के ही अन्तर्गत कंकणबाग में भी पुरातत्वविदों ने उत्खनन कार्य किये थे। क्योंकि यहाँ से सीवर लाइन खोदते समय मौर्य युगीन मृण्मूर्तियाँ एन0बी0पी0डब्ल्यू0 और कुछ काष्ट स्तम्भों के अवशेष उपलब्ध हुए थे[1]। अतएव विस्तृत उत्खनन न हो पाने के कारण इसे भी एन0बी0पी0डब्ल्यू0 और परवर्ती एन0बी0पी0डब्ल्यू0 संस्कृति से सम्बद्ध किया गया।

वैशाली :- वैशाली को उत्तरी बिहार में पूर्व के मुजफ्फरपुर जिले के बसाढ़ गाँव से समीकृत किया गया है, लेकिन अब वैशाली नाम से एक नया जिला बन गया है। रामायण और महाभारत ग्रन्थों में भारत के प्राचीन नगरों में इसकी गणना की गई है। लिच्छवियों की राजधानी, महावीर का जन्मस्थान और अशोक स्तम्भ की यहाँ पर उपलब्धि के कारण यह स्थल पुरातात्विक दृष्टि से

---

1. इण्डियन आर्कियोलोजी : ए रिव्यू (1970-71), पृ0 62-64।

महत्वपूर्ण है । बुद्ध की मृत्यु के 150 वर्ष बाद द्वितीय बौद्ध संगीत का आयोजन भी यहाँ पर हुआ था । 1903-04 में टी० व्यास ने और 1913-14 में बी०बी० स्पूनर ने इस स्थल का उत्खनन किया और बाद में 1957-58 और 1961-62 के बीच के० पी० जायसवाल शोधसंस्थान द्वारा उत्खनन कार्य किया गया । यहाँ पर जिन क्षेत्रों में उत्खनन किया गया उनमें प्राचीन तालाब, स्तूप, राजा विशाल का गढ़, धीमेन का तल्ला, चक्रनदास, गिरिया और लालपुरा प्रमुख हैं । लालपुरा से यहाँ के प्रमुख सांस्कृतिक जमाव प्राप्त हुए हैं । जिसे 500 ई०पू० से लेकर 500 ई० तक के चार सांस्कृतिक कालों में विभाजित किया गया है ।

प्रथम सांस्कृतिक काल प्रथम ए और प्रथम बी दो उपचरणों में विभाजित है । प्रथम ए उपचरण में ब्लेक ऐंड रेड वेयर, रेड वेयर, एन०बी०पी०डब्ल्यू०, हड्डी के वाणाग्र, लोहे के उपकरण आदि प्राप्त हुए हैं । कई धूसर पात्र [ग्रेवेयर] भी उपलब्ध हुए हैं । जिनमें से कुछ पर काले रंग के चित्र बनाये गये हैं । इस चरण से किसी भी संरचना के प्रमाण नहीं मिलते । प्रथम बी उपचरण 300 से 150 ई०पू० के मध्य रखा गया है, जिसमें एन०बी०पी०डब्ल्यू० और ग्रेवेयर चलती रहती है तथा पकी ईंटों की बनी दीवालें और अर्द्धरत्नों के मनके, नाग की मूर्तियाँ मिलती हैं ।

द्वितीय सांस्कृतिक काल जिसे 150 से 100 ई० के मध्य रखा गया है, में एन०बी०पी०डब्ल्यू०, आहत और ढली हुई मुद्राएं पूजार्थक फलक आदि उपलब्ध हुए हैं । तृतीय और चतुर्थ सांस्कृतिक काल जो क्रमशः 200 से 300 ई० और 300 से 500 ई० के मध्य के हैं, से पकी ईंटों से बनी संरचनाएं, मिट्टी की मुहरें और गुप्त काल की प्रतिमाएं प्राप्त हुई हैं । वैशाली के उपकरणों में एन०बी०पी०डब्ल्यू० संस्कृति के प्रारम्भिक और परवर्ती दोनों चरणों के प्रमाण प्राप्त होते हैं[1] ।

---

1. सिन्हा, बी०पी० और राय, एस०आर० [1969], वैशाली [illegible] वैशाली, 1950

<u>राजगिरि :-</u> पटना से लगभग 100 किलोमीटर दक्षिण-पूर्व स्थित राजगिरि का उल्लेख महाभारत में भी मिलता है । यह मगध की राजधानी तथा बिम्बिसार और अजातशत्रु के समय में महात्माबुद्ध यहाँ कई बार आये थे । इस स्थल का उत्खनन अमलानन्द घोष ने 1950 में किया था, और इसके सांस्कृतिक जमाव को चार सांस्कृतिक कालों में विभाजित किया[1] ।

प्रथम सांस्कृतिक काल को पाँचवी शताब्दी ई0 पू0 के पहले माना गया है । द्वितीय सांस्कृतिक काल से एन0बी0पी0डब्ल्यू0 संस्कृति के प्रमाण मिलने लगते हैं । यहाँ से दाह संस्कार के आद शवाधान के प्रमाण मिलते हैं । तृतीय और चतुर्थ सांस्कृतिक कालों को प्रथम शती ई0 पू0 से प्रथम शती ई0 के बीच में रखा गया है ।

1953-54 में डी0आर0 पाटिल ने यहाँ पुन: उत्खनन किया जिससे बौद्ध विहार और अन्य प्रमाण उपलब्ध हुए । एन0बी0पी0डब्ल्यू0 संस्कृति से सम्बद्ध वलय कूप भी प्राप्त हुए हैं । 1961-62 और 1962-63 में रघुवीर सिंह ने यहाँ पर पुन: उत्खनन किया । जिससे एन0बी0पी0डब्ल्यू0 के प्रमाण उपलब्ध हुए । इन उत्खननों से एन0बी0पी0डब्ल्यू0 संस्कृति के प्रारम्भिक और परवर्ती दोनों चरणों के प्रमाण उपलब्ध हुए हैं ।

<u>अपसद् :-</u> बिहार के नेवादा जनपद में स्थित अपसद् का उत्खनन 1973-74 से लेकर 1983-84 के बीच पी0सी0 प्रसाद द्वारा किया गया । यहाँ के [illegible] जमाव दो चरणों में विभक्त किये गये हैं । प्रथम में एन0बी0पी0डब्ल्यू0

---

1. घोष, ए0 [1950], [illegible], <u>एंशियेन्ट [illegible]</u> नं0-7, पृ0 86.

ब्लेक वेयर, ब्लेक एण्ड रेड वेयर और एक लोहे का उपकरण, हाथी दांत और मृण्मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। द्वितीय चरण से परवर्ती गुप्त काल के विश्वमंदिर के अवशेष मिले हैं। अपस्तर को एन0बी0पी0डब्ल्यू0 संस्कृति के परवर्ती चरण के अन्तर्गत रखा गया है।

चन्द्रहाडीह :- उत्तरी बिहार के मुजफ्फरपुर जिले में स्थित इस स्थल का उत्खनन 1977-78 में किया गया। उत्खनन से प्राप्त महत्वपूर्ण सामग्रियों में एन0बी0पी0डब्ल्यू0 और ग्रेवेयर के पात्र एवं इस संस्कृति के अवशेष प्राप्त हुए हैं[1]।

कटरागढ़ :- बिहार के मुजफ्फरपुर जिले में स्थित इस स्थल का उत्खनन 1975-76 से लेकर 1979-80 तक किया गया। जिसके परिणामस्वरूप एन0बी0पी0डब्ल्यू0, काले रंग से चित्रित धूसर पात्र (ग्रेवेयर और रेडवेयर) प्राप्त हुए हैं। परवर्ती सांस्कृतिक जमाव से शुंग कुषाण और पाल काल के अवशेष उपलब्ध हुए हैं। इस स्थल के उत्खनन के विस्तृत विवरण अभी प्रकाशित नहीं हुए हैं[2]।

बलिराजगढ़ :- उत्तरी बिहार के दरभंगा से 80 किलोमीटर उत्तर-पूर्व स्थित इस स्थल पर 1962-63 में रघुवीर सिंह और एस0 मुखर्जी द्वारा किए गए उत्खनन से रक्षा प्राचीर के नीचे के जमाव से एन0बी0पी0डब्ल्यू0 के पात्र खण्ड उपलब्ध हुए यहाँ की रक्षा प्राचीर के तीन चरणों के प्रमाण उपलब्ध हुए हैं। जिसका निर्माण द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व में किया गया था, जो पाल युग तक उपयोग में आई।

---

1. इण्डियन आर्कियोलोजी : ए रिव्यू (1977-78), पृ0 15।
2. इण्डियन आर्कियोलोजी : ए रिव्यू (1975-76 से लेकर 1979-80 तक) प्रकाशित रिपोर्ट ।

अन्य पुरा सामग्रियों में सिक्के, हड्डी की सामग्रियाँ और कुछ शुंगकालीन मृण्मूर्तियाँ सम्मिलित हैं[1]।

उक्त महत्वपूर्ण उत्खननों के स्थलों के विवरण से स्पष्ट है कि अधिकतर उत्खनन उध्वाधिर विधि से किया गया है, जिससे स्थलों को सांस्कृतिक अनुक्रम और स्तरीकरण स्पष्ट हुआ है। इन संस्कृतियों के अन्य पक्षों पर बहुत कम प्रकाश पड़ा है। गंगा घाटी के अधिकांश पुरास्थल ऊँचे टीलों के रूप में मिलते हैं, जिन पर यदि बड़े क्षेत्र में उत्खनन किया भी जाये तो निचले धरातल पर पहुँचते-पहुँचते उत्खनन का क्षेत्र सीमित हो जाता है। फिर भी उपलब्ध अवशेषों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मध्य गंगा घाटी में प्रारंभिक ऐतिहासिक युग की एन0बी0पी0डब्ल्यू0 संस्कृति के स्थल पूर्ववर्ती सांस्कृतिक जमाव के ऊपर मिलते हैं। ऐसे स्थल बहुत कम हैं जहाँ एन0बी0पी0डब्ल्यू0 संस्कृति के ब्लैक ऐण्ड रेड वेयर और ब्लैक स्लिप्ड वेयर के साथ मिलने लगते हैं लेकिन लोहे का व्यापक प्रचलन एन0बी0 पी0डब्ल्यू0 संस्कृति का साथ ही दिखाई पड़ता है। एन0बी0पी0डब्ल्यू0 संस्कृति के प्रारंभिक चरण से जो सांस्कृतिक अवशेष उपलब्ध हुए उनके आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय समाज प्रारंभिक ऐतिहासिक काल में भी संभवतः प्राचीन परम्पराओं का जल्दी परित्याग नहीं करता था।

मकानों का निर्माण एन0बी0पी0डब्ल्यू0 संस्कृति के प्रारंभिक चरण में बाँस-बल्ली और घास-फूस की झोपड़ियों से अथवा मिट्टी की दीवारों से किया

---

1. इण्डियन आर्कियोलोजी : ए रिव्यू (1962-63 से 1974-75 तक (प्रकाशित रिपोर्ट।

जाता था । एन0बी0पी0डब्ल्यू0 संस्कृति के परवर्ती चरण में ही नगरीकरण के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं । आवास स्थल की विकसित प्रक्रिया में जिसमें पकी ईंटों के मकान, मुद्राएं आदि परवर्ती एन0बी0पी0डब्ल्यू0 संस्कृति से ही सम्बन्धित हैं । अधिकांश स्थल बड़ी नदियों के तट पर स्थित हैं । सहायक नदियों पर जो स्थल हैं भी उनका आकार छोटा है । जैसा कि आर0 एस0 शर्मा ने [illegible] किया है कि गंगा घाटी में कई स्थलों पर निवास का प्रारम्भ एन0बी0पी0डब्ल्यू0 काल से ही होता है । इस युग में इन स्थलों पर निवास क्षेत्र में भी वृद्धि हुई । उदाहरण के लिए - प्रहलादपुर, खैराडीह और गनवरिया[1] । आदि स्थलों पर पहले आवास स्थल टीले के सीमित क्षेत्र में था, लेकिन एन0बी0पी0डब्ल्यू0 संस्कृति के समय यह क्षेत्र बढ़ गया । उदाहरण के लिए इसी तरह के प्रमाण एन0बी0पी0 डब्ल्यू0 संस्कृति के समय में ऊपरी गंगा घाटी के अतरंजी खेड़ा तथा कानपुर में किये गये उत्खननों से प्राप्त हुए हैं[2] । जार्ज एरडसी ने मध्य गंगा घाटी में कौशाम्बी और समीपवर्ती क्षेत्रों में पुरातात्विक अन्वेषण किया और इनको भी इसी तरह के प्रमाण उपलब्ध हुए[3] ।

---

1• शर्मा, आर0एस0 (1983), मटेरियल कल्चरर्स ऐण्ड सोसल [illegible] इन एंसियेन्ट इण्डिया, पृ0 - 100, नई दिल्ली ।

2• गौड़, आर0सी0 (1983), इक्सकवेशन एट अतरंजीखेड़ा, पृ0 243 ; लाल मक्खन (1984), सेटेलमेंट हिस्ट्री ऐण्ड राइज आफ सिविलाइजेशन इन गंगा-यमुना दोआब , पृ0 - 174 ।

3• एरडोसी, जार्ज (1985), सेटेलमेंट आर्कियोलोजी आफ कौशाम्बी रीजन, मेन ऐण्ड इनव[illegible] , वेल्यूम 9, पृ0 71

इस संस्कृति के स्थलों के विस्तार में स्पष्ट परिवर्तन दिखाई पड़ता है । इस समय पूर्ववर्ती काल की अपेक्षा नदियों से दूर भीतरी भागों में भी इनका विस्तार दिखलाई पड़ता है । उदाहरण के लिए सुल्तानपुर जनपद में बहुत से स्थल, तालाबों और झीलों के किनारे प्राप्त हुए हैं[1] । जबकि गोमती जो अपेक्षाकृत इस क्षेत्र की बड़ी नदी है, के तट पर इस संस्कृति के महत्वपूर्ण स्थल नहीं प्राप्त हुए हैं । इसका कारण सम्भवत: इस नदी के भयंकर बाढ़ अथवा इसका बार-बार अपना प्रवाह मार्ग परिवर्तित करना हो सकता है । इस युग में एक स्थल की दूसरे से दूरी भी कम हो जाती है । कहा जा सकता है कि एन0 बी0 पी0 डब्ल्यू0 संस्कृति के आवास स्थलों के विस्तार और स्थलों की संख्या में वृद्धि संभवत: मानव जनसंख्या में वृद्धि का संकेत करता है ।

उपरोक्त सभी संस्कृतियों का पुरातत्व ने जो स्वरूप प्रस्तुत किया है वह प्रारम्भ में आदिम कबीलों की आखेटक और संग्रहक अर्थ व्यवस्था की संस्कृति है जिसके पुर्ननिर्माण में वर्तमान काल की जनजातियों की जीवन शैली बहुत सहायक है । यद्यपि गंगा के मैदान में इतनी तीव्र गति से सांस्कृतिक

---

1. कुमार, रवीन्द्र (1989), आर्कियोलाजी आफ मिडिल गोमती बेसिन विथ स्पेशल रिफरेन्स टू सुल्तानपुर डिस्ट्रिक्ट, पी0एच0डी0 उपाधि के लिए प्रस्तुत अप्रकाशित शोध प्रबन्ध, बी0एच0यू0, वाराणसी, डिस्पर्सल आफ सेटैलमेंट इन द मिडिल गोमती बेसिन, इन आर्कियोलाजिकल [illegible]गेशन, इन्डोपैसिफिक प्री हिस्ट्री, 1990, पृ0 192 - 197 ।

विकास हुआ कि अधिकांश जनजातियाँ पिछले कुछ दशकों में ही अपने सांस्कृतिक स्वरूप में परिवर्तन कर चुकी हैं। नव पाषाणिक, ताम्र पाषाणिक और प्रारम्भिक ऐतिहासिक संस्कृतियों का जीवन अभी भी गंगा के मैदान के ग्रामीण जीवन में देखा जा सकता है। विभिन्न ग्रामीण उद्योग, कृषि आदि आज भी प्राचीन काल की तकनीक पर ही आधारित है।

## उपसंहार

मध्य गंगा का मैदान सांस्कृतिक दृष्टि से प्रारंभ से ही समृद्ध रहा है। गंगा और उसकी सहायक नदियों द्वारा सिंचित इस क्षेत्र में यदि एक ओर यहाँ की भूमि को उर्वरा बनाया तो वहीं पर मानव की सांस्कृतिक परम्परा को भी अविच्छिन्न रखा। प्रातिनूतन काल और नूतन काल के बीच की अनुकूल जलवायु के समय मानव ने इस क्षेत्र में पदार्पण किया। गंगा के मैदान में मानव का आगमन अप्रत्याशित नहीं था। बहुत सम्भावना इस बात की है कि विन्ध्य क्षेत्र की भीषण गर्मी और प्राकृतिक आहार की कमी ने मानव को गंगा के मैदान में उतरने के लिए बाध्य किया। मानव का इस क्षेत्रमें स्वभावोनुकूल प्रारंभ में आना-जाना लगा रहा लेकिन कालांतर में मानव ने स्थायी रूप से इस क्षेत्र को अपनी कर्मस्थली बना लिया। प्रारंभिक ऋतुनिष्ठ प्रवजन और बाद में स्थायी आवास के प्रमाण हमें क्रमशः गढ़वा (बनारस) कुद्रा और अहिरी (इलाहाबाद) तथा सुलेमान पर्वतपुर, मन्दाह और साल्हीपुर एवं सरायनाहरराय, महदहा, दमदमा आदि स्थलों पर दिखायी पड़ते हैं।

सांस्कृतिक दृष्टि से सर्व प्रथम अनुपुरापाषाण काल में मानव मध्यगंगा घाटी में आया उस समय इसकी प्रवृत्ति संचरणशीलता की थी और इसके स्थायी आवास के प्रमाण हमें कम ही मिलते हैं लेकिन आगे चलकर मध्य पाषाण काल में स्थायी निवास और आवास के प्रमाण हमें प्राप्त होते हैं। इस काल में मानव ने अपने आवास धनुषाकार झीलों और उनसे निकलने वाली

नदियों के तट पर बनाए । आवास अपेक्षाकृत ऊँचाई पर होते थे ।[1]

कमोवेश हमें यह परम्परा परवर्ती ऐतिहासिक काल तक अविच्छिन्न रूप से दिखलायी देती है । मध्य पाषाण युग का मानव अपने आवासों का निर्माण अन्डाकार एवं गोलाकार झोपड़ियों के रूप में करता था, इसके प्रमाण हमें प्रतापगढ़ जनपद स्थित महदहा, सरायनाहरराय और दमदमा नामक मध्य - पाषाण कालिक स्थलों से प्राप्त होता है । स्थायी निवास के बावजूद इस काल के मानव की अर्थव्यवस्था शिकार एवं संग्रह पर आधारित थी जंगलों और घास के मैदानों में प्रचुर मात्रा में विभिन्न प्रजाति के सुअर, खरगोश, बारहसिंगा और हिरन जैसे शाकाहारी जानवर थे । इस क्षेत्र के उत्खनित स्थलों से हाथी, भैंसा, गैंडा जैसे बड़े जानवरों के प्रमाण भी प्राप्त हुये हैं । इसके साथ ही साथ मछली कछुए और घोंघे तथा विभिन्न प्रजाति के पक्षियों की भी हड्डियाँ खुदाइयों से प्राप्त हुयी है । जिससे यह सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि उस काल में ये जीव-जन्तु पर्याप्त संख्या में मिलते रहे होंगे ।

इस काल में मानव की झोपड़ियाँ स्तम्भ गर्तों और बांस बल्ली द्वारा निर्मित होती है । इसके प्रमाण चोपनीमान्डो और सरायनाहरराय में देखे जा सकते हैं । झोपड़ियाँ इधर-उधर बिखरी हुयी रहती थी । उनमें तारतम्य का अभाव होता था । सरायनाहरराय में हमें सामुदायिक झोपड़ी और फर्श के प्रमाण मिले हैं । कई परतों में प्राप्त फर्शों पर जले हुये के प्रमाण प्राप्त होने से और फर्श के भीतर तथा बाहर अनेक संख्या में गोलाकार गर्त चूल्हे प्राप्त होने से उनकी

---

1. दुबे अनिल कुमार, 1997, मध्य गंगा घाटी में अधिवास प्रक्रिया, जौनपुर जिले के विशेष सन्दर्भ में, शोध प्रबन्ध, इलाहाबाद, पृ0 285-286 ।

सामुदायिक प्रवृत्ति का सहज अनुमान लगाया जा सकता है । वर्तमान सर्वेक्षण जो कि जनपद सुल्तानपुर के ईर्द-गिर्द किया गया है नट एवं मुसहर जन जातियों में भी इसी तथ्य का पता चलता है । ये जनजातियाँ आज भी सामूहिक रूप में रहती हैं, तथा गोलाकार गर्त चूल्हे इसके आवासों से प्राप्त हुये हैं । आज भी ये अपनी झोपड़ियों के निर्माण में बाँस, बल्ली, लकड़ी एवं घास-फूस का प्रयोग बहुतायत रूप से करते हैं ।

फर्शों एवं गर्त चूल्हों के ही समीप इस मध्य पाषाण काल का मानव शवाधान संस्कार करता था । आवास क्षेत्र में शवाधान के पीछे बहुत सम्भव है कि मृतक के प्रति आदर एवं स्नेह तथा उसके परलोक सम्बन्धी अवधारणा रही होगी । पश्चिम-पूर्व या पूर्व-पश्चिम में विस्तीर्ण शवाधान सम्भवतः सूर्य देवता के प्रति उसकी आस्था रही है ।

मध्य पाषाण काल के मानव के उपकरण तकनीकी विकास के चलते लघु और लघुत्तर होते दिखाई पड़ते हैं । जिनका प्रयोग वह धनुष और वाण के माध्यम से दूर तक के शिकार को करने के लिये करता था । मध्य प्रदेश की कतिपय जनजातियाँ आज भी शिकार करने में धनुष एवं वाण का प्रयोग करती हैं । तकनीक के विकास और भोजन में जंगली अन्नों का प्रयोग, सिल-लोढ़े में पीसकर खाद्यान्नों का भोजन में उपयोग आदि अनेक कारक तत्व इस काल में मानव जीवन को अपेक्षाकृत बेहतर बनाये और साथ ही उनकी जनसंख्या में तीव्र वृद्धि हुयी ।

गंगाघाटी के उस क्षेत्र में जहाँ मध्य पाषाण संस्कृति के प्रमाण हैं वहाँ अभी तक नवपाषाणिक संस्कृति का एक भी प्राथमिक स्थल नहीं प्राप्त हुआ है । प्रश्न उठता है कि इस क्षेत्र में कृषि एवं पशुपालक नव पाषाणिक संस्कृति

क्यों नहीं विकसित हुयी ? अद्यावधि यह गंगा घाटी के पुरातत्व का अनुत्तरित प्रश्न है। बहुत सम्भव है कि इस क्षेत्र में नवपाषाणिक स्थल अभी तक खोजे नहीं जा सके हैं अथवा परवर्ती जमावों के नीचे दबे हैं या जनसंख्या के दबाव के कारण विनष्ट हो गये हैं।

मध्य गंगा घाटी के पूर्वी भाग में नवपाषाणिक संस्कृति के अनेक स्थल प्रकाश में आये हैं। जिसमें चिरांद महत्वपूर्ण है। पुरातत्वविदों का यह मानना है कि जिस प्रकार विन्ध्य क्षेत्र की मध्य पाषाणिक संस्कृति ने गंगा घाटी के मध्य-पाषाणिक संस्कृति को जन्म दिया उसी प्रकार विन्ध्य क्षेत्रकी नव पाषाणिक संस्कृति ने पूर्वी क्षेत्र की नवपाषाणिक संस्कृति को पल्लवित और पोषित किया।

मध्य पाषाण की तुलना में इस काल के आवास बड़ी अथवा छोटी नदियों के किनारे उनकी बाढ़ सीमा से दूर प्राप्त होते हैं। इनके आवास स्थल के समीप ही खेती के लिये उर्वर भूमि की उपलब्धता के ही साथ ये स्थल जंगली जीव-जन्तुओं आदि से भी संरक्षित थे। नवपाषाणिक स्थल यदि एक बार आबाद हो गये तो उनके पुनः वीरान होने का प्रमाण अभी तक प्राप्त नहीं हुआ। इसका अभिप्राय यह है कि नवपाषाणिक स्थल चुनते समय मानव ने पूर्ण स्थायी जीवन की सभी आवश्यकताओं को ध्यान में रखा था। इस काल में मानव अपने आवास के लिये गोलाकार अथवा अन्डाकार स्तम्भ गर्तों पर निर्मित झोपड़ियां बनाता था जिसके चारों तरफ बांस बल्ली अथवा घास-फूस की दीवाल बनाकर के उस पर गीली मिट्टी का लेप लगा दिया जाता था। एक घर में प्रायः एक ही झोपड़ी के प्रमाण प्राप्त हुये हैं, लेकिन विन्ध्य क्षेत्र के महगड़ा नामक स्थल से एक घर में दो से अधिक झोपड़ियों के प्रमाण मिले हैं। पुरातत्वविदों का मानना है कि इन

झोपड़ियों का घर के अलग-2 कार्यों के रूप में प्रयोग किया जाता रहा होगा। जैसे आवास, रसोई, इत्यादि।

मध्यपाषाण काल की तुलना में इस काल के फर्श कटी मिट्टी को पीटकर बनाये जाते थे। फर्शों पर मिली अनेक प्रकार के अनाजों और कई प्रकार के पालतू पशुओं की हड्डियों के प्राप्त होने से इनके आखेटक प्रवृत्ति को पूर्ववर्तीकाल के सन्दर्भ से जोड़ा जा सकता है। अ[illegible]र अर्थव्यवस्था इस काल के मानव का प्रमुख आधार था। महगड़ा, कोल्डिहवा और चिरांद से प्राप्त अवशेषों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस काल का मानव आग के बेहतर प्रयोग, पहिये की महत्ता और चाक का ज्ञान इत्यादि महत्वपूर्ण तथ्यों से परिचित हो चुका था। जो मानव विकास की कड़ी में मील का पत्थर साबित हुआ।

ताम्रपाषाणिक काल में मानव की अर्थव्यवस्था में यदि एक ओर उल्लेखनीय परिवर्तन आया तो वहीं पर नवपाषाण काल की तुलना में उसके रहन-सहन में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं दिखलाई पड़ता है। चाक पर बने हुये बर्तनों का बहुतायत प्रयोग और तांबे पर बने हुये उपकरणों का आखेट एवं कृषि के लिये उपयोग इस काल के मानव के जीवन में अनेक परिवर्तन लाये। इस काल के अन्तिम चरण में मानव लोहे से परिचित हो गया था जिसके प्रमाण प्राक् उत्तरी काली चमकीली मृदभाण्ड पात्र परम्परा संस्कृति के कई स्थलों से प्राप्त हुये हैं, परन्तु लोहे से उसका परिचय अभी प्रारम्भिक अवस्था में ही था, क्योंकि लोहे के इस ज्ञान ने उसकी अर्थव्यवस्था में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं कर पाया। चित्रित पात्र परम्पराओं, बिन्दुओं से अलंकृत पुच्छल और साकेत युक्त वाणाग्र, मृण्मूर्तियों एवं मनकों से उनके कलात्मक पक्ष पर प्रकाश पड़ता है।

मध्य गंगा घाटी में भूमि की उर्वरता और प्राकृतिक सम्पदा की सम्पन्नता के कारण यह क्षेत्र मध्य पाषाणिक काल से लेकर आधुनिक काल तक निरन्तर सांस्कृतिक विकास में लगा रहा। चिरांद के उत्खनन से पता चलता है कि इस क्षेत्र में बार-बार प्राकृतिक विपदा आयी लेकिन मनुष्य इस क्षेत्र का परित्याग नहीं किया उसने प्रत्येक आपदा के बाद नये सिरे से रहन-सहन, निर्माण आखेट, संग्रहण प्रारम्भ किया, जिसका प्रमाण आज के जनजातियों के अध्ययन से भी प्राप्त होता है।

यद्यपि मध्य गंगा घाटी में मूल आदिम जातियां के अवशेष कम हैं लेकिन प्राचीन संस्कृति साहित्य में इस क्षेत्र में आदिम लोगों के प्रमाण प्राप्त होते हैं। वाल्मीकि रामायण में वन्य स्थिति का विस्तृत विवरण है[1]। कालीदास ने रघुवंश में दिलीप के गुरुवशिष्ठ के आश्रम की यात्रा के समय मार्ग में घोषों द्वारा उन्हें ताजा मक्खन देने का उल्लेख किया है जिसकी पहचान गोंडा जनपद के वर्तमान ग्वारिच परगने से की गयी है। ऐसी मान्यता है कि इस क्षेत्र के जंगलों में गोंडों के अतिरिक्त और कोई नहीं था और किसी समय उत्तर भारत का अधिकांश भाग गोंड जाति के लोगों से बसा हुआ था। सम्भव है कि अन्य लोग जो यहाँ आकर बाद में बसे उन्हीं का नाम धारण कर लिया। इस क्षेत्र में गोड़िया नामक जाति आज भी विद्यमान है जो मछली आदि पकड़ने का कार्य करते हैं। संभवत: यही प्राचीन गोड़ जाति के वंशज हैं। महाभारत में इस क्षेत्र

---

1. पाल, जे० एन०, 1989, क्या राम प्रागैतिहासिक हैं? श्रीराम इन आर्ट आर्क्यलाजी एण्ड लिटरेचर, पृ० 196 - 205 ।

में घोड़ा बेचने वाली एक टांगो जाति का उल्लेख मिलता है। पहाड़ी छोटे टट्टू अब भी टांगन के नाम से जाने जाते हैं। नेशफील्ड के अनुसार उजड़ी गदियों उनके नामों और उनके विषय में जनश्रुतियों से प्रतीत होता है कि डोमकटर, डोमड़े या डोमर किसी समय भारतवर्ष विशेष कर घाघरा के उत्तर जिलों में अत्यधिक शक्तिशाली थे। इनमें से कुछ भाट और ब्राह्मणों को मिलाकर हिन्दुत्व के आचार-विचार से क्षत्रिय बन गये और शेष निम्न स्तर के ही बने रहे जिनमें से कुछ धरिकार या बंसफोर तथा धानुक रह गये[1]। इसके अतिरिक्त भरोकी एक प्रबल जाति इस देश में निवास करती थी। इनमें से कुछ राजभर कहलाते हैं जिससे प्रतीत होता है कि इस जाति के लोग पहले शासक थे। इस क्षेत्र के बहुत से पुरास्थल परम्पराओं के अनुसार भर लोगों के टीले अथवा गढ़ी मानी जाती है। इसी प्रकार सरयू और घाघरा संगम पर स्थित वाराह क्षेत्र को विष्णु के वाराह अवतार का स्थल माना जाता है। गोन्डा के अन्य महत्वपूर्ण स्थलों सहेत-महेत[2] के उपरान्त मनोरामा का उल्लेख किया जा सकता है, जहाँ महाराज दशरथ ने अश्वमेध यज्ञ किया था। गोण्डा से 22 कि0 मी0 पश्चिमोत्तर मनोरामा ताल स्थित है जो उद्दालक मुनि के पुत्र नचिकेता का आश्रम था। गोन्डा, फैजाबाद, बस्ती, आजमगढ़, सुल्तानपुर, प्रतापगढ़, वाराणसी, गोरखपुर, गाजीपुर, बलिया, पटना आदि बहुत से प्राचीन ऐतिहासिक और

---

1. नेशफील्ड, 1883, ब्रीफ रिव्यू आफ दी कास्ट सिस्टम आफ दी नार्थ वेस्टर्न प्राविन्सेज एण्ड अवध, पृ0 101.
2. इस स्थल का पुरातात्त्विक उत्खनन भी हो चुका है, देखिये सिन्हा, के0 के0 1967, [illegible]न्स एट श्रावस्ती, 1959, वाराणसी।

पौराणिक स्थल उदाहरण के लिये बस्ती जनपद में पिपरहवा, गोरखपुर में कुशीनगर, सुल्तानपुर में कुशपुर, आजमगढ़ में राजा नहुष का टीला विद्यमान है ।

मध्य गंगा के मैदान में जनजातियों के समुदाय अपने परम्परागत कार्यों जैसे शिकार करना, मछली पकड़ना, खाद्य संग्रह की प्रवृत्ति, उपकरणों के निर्माण तथा तकनीकी विकास एवं ग्रामीण तथा सांस्कृतिक पहचान को आज भी येन-केन - प्रकारेण बनाये हुये हैं । जिस प्रकार मध्य पाषाणिक मानव लघु पाषाण उपकरणों का धनुष वाण के लिये प्रयोग और भोजन में जंगली अन्न का प्रयोग तथा सिल - लोढ़े का उपयोग करता था, इस क्षेत्र की जनजातियाँ आज भी इन उपकरणों का प्रयोग विकसित रूप मेंकरते हुये दिखायी देती है । मध्य पाषाणिक मानव की भांति गंधीला लोग शिरकी से गोलाकार झोपड़ी बनाकर आज भी निवास करते हैं । यह एक घुमक्कड़ जनजाति है । ये गंगा-यमुना दोआब के निवासी के रूप में जाने जाते हैं । बेड़िया जो कि बरसात के मौसम में एटा में मिलते हैं तथा सँसिया जो कि गंगा-यमुना के उपरी दोआब में मिलते हैं, मध्य पाषाणिक मानव की भांति बालू के उपरी टीले पर अपने केम्प का निर्माण करते हैं । मध्य पाषाणिक मानव जिस प्रकार आखेट एवं खाद्य संग्रह करके जीवकोपार्जन करते थे आज मध्य गांगेय क्षेत्र की जनजातियाँ उनका अनुसरण करती हुयी दिखाई देती हैं । मछली, कछुर, घोंघे, आज भी जनजातियाँ उन्हें पकड़ कर खाती हैं । खरगोश, हिरन, सूअर, विछ्छोपड़ा, गोहटा आदि का शिकार आदिम जातियाँ करती हैं । मध्य पाषाण काल में इनका उपयोग केवल खाद्य सामग्री के रूप में किया जाता था किन्तु इनका उपयोग अब जनजातियाँ धनार्जन के लिये भी करती हैं । एटा की जनजातियों के मरने पर उनके शव कोजलाकर उनकी हड्डियों को घर

में या घर  के आस-पास गाड़ दिया जाता है यही पद्धति मध्य पाषाण कालीन मानव में भी परिलक्षित होती है । भाटू लोग पीपल, तुलसी एवं सूर्य को जल चढ़ाते हैं ।  सूर्य पूजा मध्य पाषाणिक संस्कृति की देन है ।

मध्य गांगेय क्षेत्र में नवपाषाण काल, तथा ताम्रपाषाण काल की झोपड़ियों के निर्माण में बांस-बल्ली, घास-फूस, गीली मिट्टी आदि का प्रयोग किया जाता था उसी प्रकार मुसहर, बंसफोड़, नट आदि जनजातियों ने भी झोपड़ी का निर्माण किया है ।  झोपड़ियों में गर्त-चूल्हे भी नवपाषाणिक मानव की भांति ही निर्मित किये गये हैं । इन झोपड़ियों का उपयोग आवास के अलावा उपकरण निर्माण तथा कुटीर उद्योगों के लिये किया जाता है ।  बर्तन के निर्माण हेतु कुम्हार का चाक तथा मिट्टी को पीट कर अनुकूल बनाना बर्तन को सुखाना, जुलाहों के द्वारा कपड़ा बुनना आदि आज भी यथावत रूप में देखा जा सकता है ।  जिस प्रकार से धोबी वर्तमान में रेह का प्रयोग कपड़ा धोने एवं गधे पर लादकर नदियों के किनारे ले जाने में करता है उसके भी अवशेष कदाचित नवपाषाणिक एवं ताम्र - पाषाणिक संस्कृति में विद्यमान थे ।  मुसहर लोग आज भी दोना, पत्तल, लकड़ी, बेचने का कार्य, शहद निकालना, चूहा मारना एवं खाना आदि करते हैं, वह सब पूर्व में विद्यमान रहे होंगे ।  बांस, लकड़ी, पत्थर, गीली मिट्टी आदि का प्रयोग वास्तु उद्योग में अधिकाधिक किया जाता था । धातु उद्योग ताम्रपाषाणिक संस्कृति से निरन्तर चला आ रहा है ।  शिकारी एवं खाद्य संग्रह की प्रवृत्ति भी इनमें नवपाषाणिक एवं ताम्रपाषाणिक मानव की भांति परिलक्षित होती है । चिड़ियों को फंसाने के लिये ये लासा तथा लाठी एवं लकड़ी से निर्मित औजार का प्रयोग करते हैं । मछली को पकड़ने के लिये बांस के लकड़ी की टहनी की बनाई

गयी जाल एवं वर्तमान में प्लास्टिक के जाल का प्रयोग करते हैं ।

ये जनजातियाँ शहद, जंगली जानवरों का मांस, जंगली उत्पाद, ढोल के लिये चमड़े, टोकरी, तिनके के पंखे, ताड़ के पंखे, रस्सी, जुलाहों के लिये ब्रश, चटाई, दोना, पत्तल, खसखस घास, सूती धागे, आटा पीसने की चक्की, जड़ी-बूटी तथा उससे निर्मित औषधि से अपनी जीविका का निर्वाह कर रही है । उत्तरी भारत में कंजड़ मुख्य रूप से पत्थर काटने वाले होते हैं, गाँवों में चक्की, सिल लोढ़ा आदि को काटकर बनाते हैं (प्लेट-31) । वे सिल्क इकट्ठा करके धागे में पिरो देते हैं । जो बुनकरों के काम आता है । सूती धागों को साफ करने वाले ब्रश तथा खस के निर्माण में इनका एकाधिपत्य है । उक्त गतिविधियाँ भी नवपाषाणिक संस्कृति की द्योतक मानी जा सकती है[1] ।

वर्तमान मध्य गांगेय क्षेत्र की जनजातियों के धार्मिक क्रियाकलाप तथा शवाधान संस्कार भी नवपाषाणिक ताम्रपाषाणिक तथा प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल से मिलते-जुलते प्रतीत होते हैं ।

---

1. बरनवाल, प्रहलाद, 1996, उत्तर भारत में संजाति पुरातात्त्विक अध्ययन और मध्य पाषाणिक संस्कृति, (मैसोलिथिक इन इंडिया) इलाहाबाद विश्वविद्यालय में प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग द्वारा आयोजित राष्ट्रीय सेमीनार में पढ़े गये शोध पत्र द्वारा ।
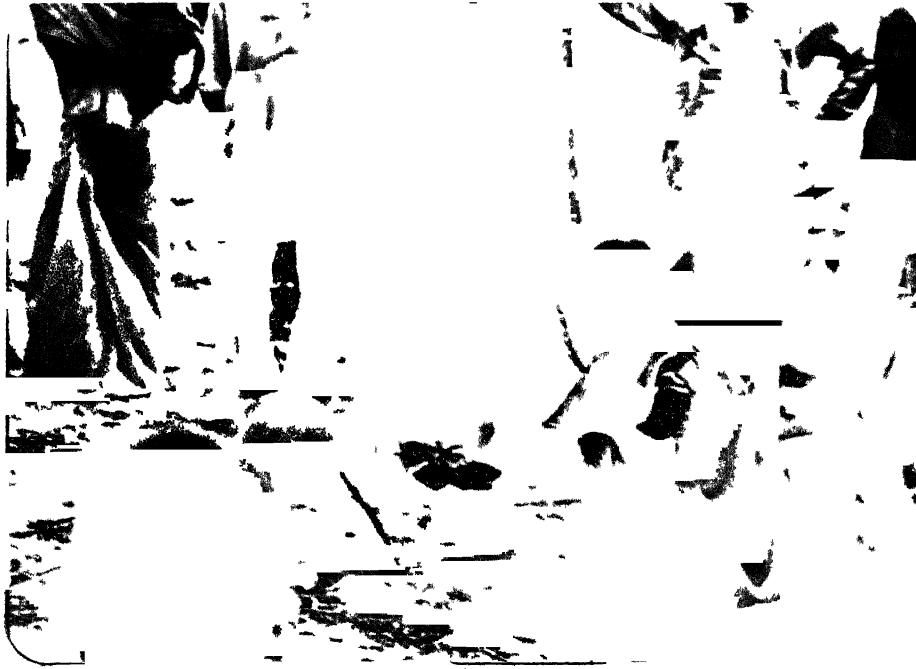
क्रमांक - 1 - साँप को मटके से निकाल कर दिखाता हुआ एक नट ।

क्रमांक - 2 - सहजोरा (सुलतानपुर), साँप दिखाता हुआ एक मंगता उसका परिवार एवं झोपड़ी ।

प्लेट क्रमांक – 3 – मंगता जनजाति द्वारा निर्मित झोपड़ी ।

प्लेट क्रमांक – 4 – बेल्वा के साथ एक नट परिवार ।

ट क्रमांक - 5 - झोपड़ी के सम्मुख चूल्हा एवं भोजन करते हुये एक नट का परिवार

प्लेट क्रमांक - 6 - बाँस, सरपत, आदि से निर्मित झोपड़ी, उसके सम्मुख चूल्हा, बिखरे बर्तन, तथा नट जनजाति के बच्चे ।

ट क्रमांक - 7 - पेड़ों के नीचे खुले में पालतू पशुओं एवं स्वनिर्मित खाट के साथ नट जाति के लोग
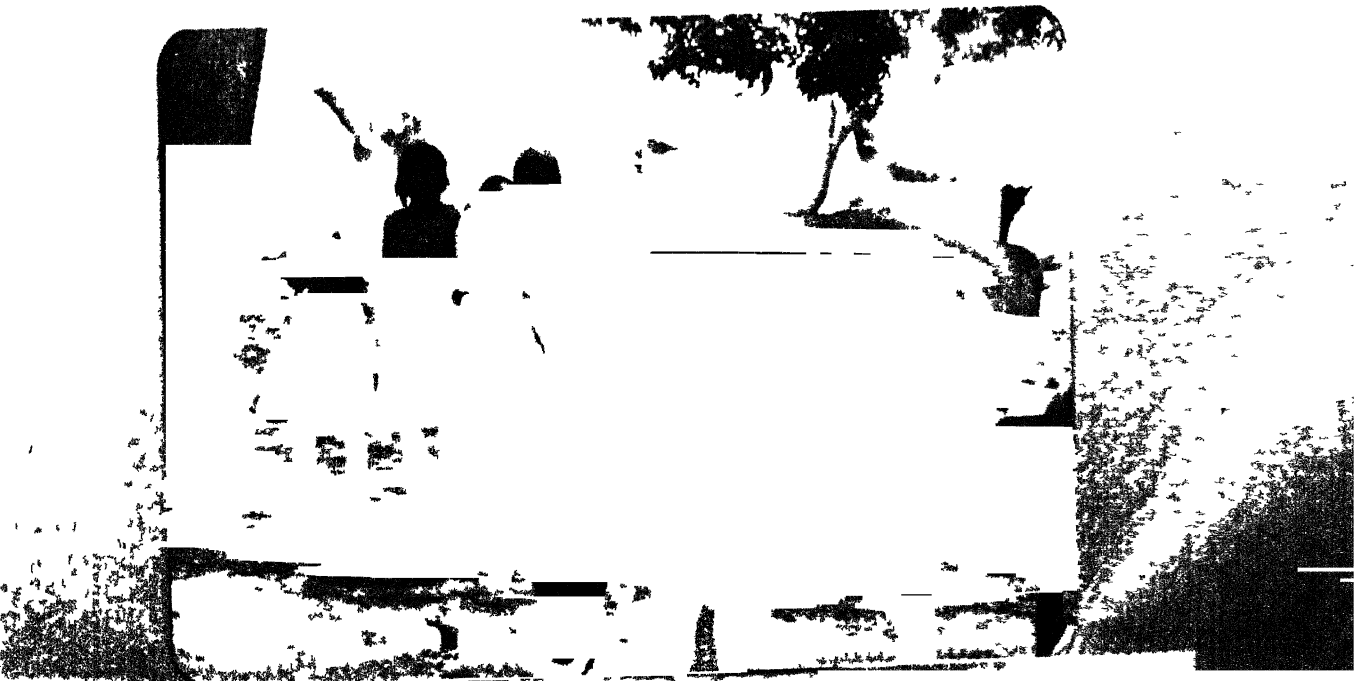
ेट क्रमांक - 8 - पालतू भैंस के साथ नट परिवार ।

प्लेट क्रमांक - 9 - डीह [सुल्तानपुर] में दोना-पत्तल बनाते मुसहर जनजाति ।

प्लेट क्रमांक -10 - मुसहरों द्वारा झोपड़ी में पाले गये जानवरों का [illegible]

प्लेट क्रमांक -13 - विभिन्न प्रकार के मृदभाण्ड ।

प्लेट क्रमांक -13[क] [illegible] जनजाति का शिकारी कुत्ता ।